चन्द्रशेखर



आधुनिकता बनाम समकालीनता

पुस्तक के बारे में

पीछे **आधुनिकता का विलायती हाथी** बिदक कर हमारे यहाँ आ निकला और यहाँ के बड़े-बड़े नगरों में टनटनाता घूम गया। हमने पूरा हाथी देखने के दावे किए। शोभायात्राओं में उसकी सवारी का दम भरा !! अपने छोटे दरवाजों पर इस **सफेद गजराज** को बांधने की कोशिशें भी कीं !!! यह हाथी यूरोप की हवा खाकर आया था सो काफी चालाक था। न तो वह खुद किसी की पकड़ में आया और न उसकी दुम ही किसी के हाथ लगी। हमें लगे केवल अपने हाथ, या हाथ आए अपने ही हाथ !! खाली हाथ !!!

यहाँ की आबोहवा में यह हाथी बीमार पड़ गया और एक दिन आसाम के जंगलों में लापता हो गया। हमारे हाथ न ज़िन्दा हाथी लगा और न मरा ही। इस हाथी के पोस्टरों को कंधे पर उठाकर हमने जो मुनादी पीटी थी वह झूठी साबित हुई। हमारे सरकस-शो फ्लाप गए।

मगर हम इस हाथी के बारे में बराबर ब्यान-बाजी करते आ रहे हैं। उसके जिन्दा होने की, भारतीय जंगलों में उसके सैर-सपाटे की अफवाहें फैलाते आ रहे हैं।

हमारे वक्तव्यों में इतना अन्तर क्यों आया ?

- क्या हमारे यहाँ आधुनिकता का अपना **भारतीय ऐरावत** नहीं है ?
- हम अपने **गणपति, गणाधिराज** को भूलकर बाहर के सरकसी हाथी के पीछे फूलमालाएं लिए क्यों दौड़ते आ रहे हैं ?

प्रस्तुत रचना—इन दोनों सवालों के उत्तरों की खोज से जुड़ी है।

Purchased at Delhi
Feb–March – 1987

आधुनिकता बनाम समकालीनता

आधुनिकता बनाम समकालीनता

चन्द्रशेखर

पी-एच० डी०, डी० लिट०

आत्माराम एण्ड संस

दिल्ली लखनऊ

प्रकाशक :
आत्माराम एण्ड संस
कश्मीरी गेट, दिल्ली-११०००६

शाखा :
१७ अशोक मार्ग, लखनऊ

संस्करण : १९८२

मूल्य : पैंतीस रुपये

मुद्रक :
गणेश कम्पोजिंग एजेंसी द्वारा
रूपाभ प्रिंटर्स, दिल्ली में मुद्रित

आधुनिक चिंतन को समर्पित :

डा० यशगुलाटी और डा० नरेन्द्रमोहन को

भारतीय ऐरावत बनाम विलायती हाथी :

पीछे आधुनिकता का **विलायती हाथी** बिदक कर हमारे हां आ निकला और यहां के बड़े-बड़े नगरों में टनटनाता घूम गया। हमने पूरा हाथी देखने के दावे किए ! शोभा-यात्राओं में उसकी सवारी का दम भरा !! अपने छोटे दरवाज़ों पर इस सफेद गजराज को बांधने की कोशिशें भी कीं !!! यह हाथी यूरोप की हवा खाकर आया था, सो काफी चालाक था। न तो वह खुद किसी की पकड़ में आया और न उसकी दुम ही किसी के हाथ लगी। हमें लगे केवल अपने हाथ, या हाथ आए अपने ही हाथ !! खाली हाथ !!! तब भी हम हाथों पर हाथ धर कर नहीं बैठे !

यहां की आबोहवा में यह हाथी बीमार पड़ गया और एक दिन असम के जंगलों में लापता हो गया। हमारे हाथ न जिंदा हाथी लगा और न मरा ही। इस हाथी के पोस्टरों को कन्धें पर उठाकर हमने जो मुनादी पीटी थी वह झूठी साबित हुई ! हमारे सरकस—शो फ्लाप गए ! खूब हूट हुए !!

मगर हम इस हाथी के बारे में बराबर ब्यान बाज़ी करते आ रहे हैं। उसके ज़िंदा होने की, भारतीय जंगलों में उसके सैर-सपाटे की, अफवाहें फैलाते आ रहे हैं।

हमारे वक्तव्यों में इतना अंतर क्यों आया !!!

दरअसल हमारे में से किसी ने पूरा हाथी नहीं देखा है। फिर भी दावा किया है उसे पूरे का पूरा देखने का। यहीं हमने पहली और सबसे बड़ी भूल की। अच्छा होता हम सब मिलकर अपने अनुभव बांटते और उनका कुल जोड़ कर इस हाथी का एक पूर्ण प्रामाणिक बिंब प्रस्तुत करते। नतीजा यह निकला है कि हाथी तो जंगलों में रूपोश हो गया है और हम इस गुमशुदा जानवर की एक तस्वीर भी नहीं बना पाए हैं।

यह कितनी बड़ी त्रासदी है !!

इससे भी बड़ी त्रासदी रही है हमारी लाइलमी की।

- क्या हमारे हां आधुनिकता का अपना भारतीय ऐरावत नहीं है ??
- हम अपने गणपति, गणाधिराज को भूल कर बाहर के सरकसी हाथी के पीछे फूल मालाएं लिए क्यों दौड़ते आ रहे हैं ??

प्रस्तुत रचना इन दोनों सवालों के उत्तरों की खोज से जुड़ी है।

हिंदी विभाग,
पंजाबी विश्वविद्यालय, पटियाला

—चन्द्रशेखर

अनुक्रम

आधुनिकता और समकालीनता : प्रक्रियात्मक रिश्ते

आधुनिकता और समकालीनता की प्रक्रिया की धुरियां कालचेतना के एक ही केन्द्र से जुड़ी हैं। उनकी यात्रा की दिशाएं समानांतर हैं। कभी आधुनिकता का प्रक्रिया-चक्र कालजयी मुद्रा में आगे निकल जाता है और कभी समकालीनता का रथचक्र सरपट भागता हुआ आधुनिकता को पीछे छोड़ जाता है। ऐसा भी कई बार हुआ है कि दोनों प्रक्रियाओं के रथ-अश्व अपनी वल्गाएं तुड़वा कर एक-दूसरे से भिड़ गये हैं। दुर्घटना के ऐसे संक्रांत-बिन्दु पर ही इनके द्वन्द्वात्मक संबंधों का चरम संघर्ष सामने आया है। ये दोनों प्रक्रियाएं एक-दूसरे की न केवल अनिवार्य अपेक्षा हैं प्रत्युत सही भी हैं और फिर भी इनमें द्वन्द्वात्मक तनाव बना रहता है। इनमें असली खानाजंगी और सीमांत गुरिल्ला लड़ाइयां भी चलती हैं और युद्ध-विराम होने पर न केवल समझौते होते हैं प्रत्युत परि-णयन संस्कार तक भी तय हो जाते हैं। काल-चेतना के संदर्भ में इनके प्रक्रियात्मक रिश्तों का अध्ययन काफी रोचक है।

इस दिशा में एक और दुर्घटना पेश आयी है आधुनिकता और समकालीनता के प्रक्रियात्मक संबंधों और तनावों का जायज़ा लेने में आधुनिकता के पंडितों ने परहेज़ किया है। उन्हें परिभाषित करने का खतरा उठाये बिना ही उनके बारे में लंबी बहसें की हैं बल्कि लड़ाइयां लड़ी हैं। परन्तु आधुनिकता क्या है ? समकालीनता क्या है ? इस महाज़ पर वे बुरी तरह हारे हैं। और दबी जुबान से यह कहते आये हैं कि—आधुनिकता एक सतत प्रयत्नशील दृष्टि है, आधुनिकता एक अविराम-प्रक्रिया है, जिसमें प्रश्न-चिह्न की निरंतरता बराबर बनी रहती है, यह एक प्रश्नाकुल मानसिकता है अथवा सतत क्रियाशील प्रश्न है। आधुनिकबोध आधुनिकता की प्रक्रिया की किसी युग विशेष और देश विशेष की समकालीनता की सापेक्षता में हुई परिणति मात्र है। यही कारण है कि जबकि आधुनिकता में एक अविराम गतिशीलता है, एक प्रक्रियात्मक निरंतरता है तब—आधुनिकबोध में यह सब नहीं है। इसलिए प्रत्येक युग और देश का अपना-अपना आधुनिकबोध रहा है क्योंकि आधुनिकबोध में एक सापेक्ष प्रकृति का ठहराव है और आधुनिकता में प्रश्नशीलता की निरंतरता। इसीलिये एक युग का आधुनिकबोध आगामी युग में सर्वांश स्वीकृति नहीं पाता है। आधुनिकता की प्रक्रिया से जो आधुनिकबोध अनुस्यूत होता है उसमें समकालीनता की कुल सापेक्षता रहती है। अर्थात् समकालीनता के संदर्भ में ही आधुनिकता की प्रक्रिया से आधुनिकबोध की परिणति होती है। आधु-निकता समकालीनता के संदर्भ में ही आधुनिकबोध की परिणतियां जन्माती हैं। एक

अविराम प्रक्रिया है तो दूसरी उसका व्यावहारिक संदर्भ है। आधुनिकता को युग और काल की व्यावहारिक सापेक्षता, समकालीनता ही प्रदान करती है।

इसी तरह आधुनिकबोध और समकालीनबोध के आपसी रिश्ते की जांच-पड़ताल भी आवश्यक है। जैसे आधुनिकता की प्रक्रिया से समकालीनता की सापेक्षता में आधुनिकबोध पनपता है वैसे समकालीन की प्रक्रिया से आधुनिकता की सापेक्षता में समकालीनबोध भी उजागर होने लगता है। आधुनिकता की परिणतियां ही—कुल समसामयिकता से अनुरूप समकालीनता को बीनती और चुनती हैं। अतः आधुनिकबोध एक प्रकार से समकालीनबोध का न केवल रचनात्मक बल्कि प्रक्रियात्मक आधार भी है।

काल-प्रक्रिया के संदर्भ में भी इन रिश्तों की तहकीक हो सकती है। आधुनिकबोध जो आधुनिकता की प्रक्रिया की एक परिणति मात्र है—उसका संश्लिष्ट चरित्र क्या है ? हमने यह माना है कि आधुनिकबोध एक युग विशेष की समकालीनता की सापेक्षता में हुई एक परिणति है। इसी बात से एक और बात हाथ लगती है कि समकालीनता आधुनिकबोध की न केवल एक अनिवार्य अपेक्षा और दरकार ही है बल्कि उसका संस्कार भी है। समकालीनता आधुनिकता की प्रक्रिया को न केवल गतिवान बनाती है बल्कि उसमें एक रूप होकर अपने अनुसार एक ऐसे आधुनिकबोध को जन्माती है, जो—उसका उपभोग करता है, उसे नया अर्थ देता है, कुल समसामयिकता से अलग करता है। यहां यह सम्बन्ध सूत्र उभर कर सामने आता है कि समकालीन आधुनिकता की प्रक्रिया को संगर्भित करती है और इस प्रकार जो आधुनिकबोध सामने आता है उसमें समकालीनता का गोत्र भी उपस्थित रहता है। रिश्तों के सूत्र का एक और रेशा भी पकड़ में आ रहा है। अभी हमने कहा है कि आधुनिकबोध समकालीनता का उपभोक्ता है। समकालीनता उसकी उपजीव्या है। उससे कटाव की स्थिति में कोई भी आधुनिकबोध महज़ एक अव्यावहारिक और बीमार दर्शन बनकर रह जाएगा। समकालीनता से उसका सरोकार आवश्यक है। समकालीन एक ओर आधुनिकबोध को व्यावहारिक और रचनात्मक आदान-प्रदान करती है दूसरी ओर आधुनिकता की प्रक्रिया को गतिशील बनाये रखती है। न तो यह कहने में गरेज करना चाहिये और न मानने में परहेज़ ही कि समकालीनता का आधुनिकता की प्रक्रिया और आधुनिकबोध से एक अनिवार्य अटूट और गहरा रिश्ता है जो विभिन्न भूमिकाओं में प्रमुख भूमिका निभाता है। इसी प्रकार समकालीनबोध और आधुनिकबोध भी प्रक्रियात्मक रिश्ते में जुड़े हैं। वे बराबर समानांतर भी हैं और एक विशिष्ट सहोदरता भी लिये हैं। आधुनिकबोध समकालीनता की सापेक्षता में आधुनिकता की प्रक्रिया से जन्मता है और समकालीनबोध आधुनिकता की सापेक्षता में समकालीनता की प्रक्रिया से उदित होता है। ये दोनों भी सर्वथा एक नहीं।[1] इनका

१. दृष्टव्य : समसामयिक न आधुनिक का प्रर्याय है और न तत्काल का स्थानापन्न। वह तत्काल का, वर्तमान क्षण का, आधुनिकता से संपीड़न है, जिसमें देशकाल की जीवंतता के साथ विवेकयुक्त वैज्ञानिक दृष्टि जुड़ी है।—मनोहर अभय : समसामयिक युगबोध : नाटककार मोहन राकेश (संपादक : सुंदरलाल कथूरिया), पृष्ठ १३५

अपना-अपना चरित्रगत वैशिष्ट्य है। समकालीनबोध यह तमीज़ सिखाता है कि कुल समसामयिकता में से क्या उपजीव्य है। यह उपजीव्य कैसे उपभोग्य है—यह शऊर आधुनिकबोध देता है।

एक बिन्दु पर आकर रिश्तों का यह ताना-बाना उलझता भी लगता है। वह है प्रक्रियात्मक व्यापार। हमने माना है कि समकालीनता आधुनिकता की प्रक्रिया को संगर्भित करती है और आगे चलकर आधुनिकबोध समकालीनता को भी संगर्भित करता है। संगर्भित आधुनिकता, आधुनिकबोध को अनुस्यूत करती है और संगर्भित समकालीनता समकालीनबोध जन्माती है। आधुनिकबोध में समकालीनता का रक्त-वीर्य रहता है और समकालीनबोध में आधुनिकता का...। इनके आपसी रिश्ते उस संगर्भण प्रक्रिया में भले ही उलझने लगें परन्तु परिणतियों के जन्मने के बाद कोई उलझाव शेष नहीं रह जाता।

आधुनिकबोध और समकालीनबोध के व्यावहारिक आयामों और दिशाओं का एक होना प्रक्रियात्मक दृष्टि से अनिवार्य है। अन्यथा यह प्रक्रिया-चक्र न केवल अवरुद्ध ही होगा प्रत्युत एक काल-बिन्दु पर आकर खंड-खंड भी हो जायेगा। इतिहास में तभी कोई खण्डितबोध, खण्डित-दर्शन सामने आया है, जब आधुनिकबोध और समकालीनबोध के व्यावहारिक आयाम अलग और विपरीत हुए हैं। इनका एक होना इसलिये अनिवार्य है कि एक उपभोक्ता है और दूसरा उपभोग्य और दोनों में उपभोक्ता और उपजीव्य का रिश्ता है, संभोक्ता और संभोग्य का संबंध है।

समकालीनता आधुनिकता से प्राप्त एक संस्कार है। ऐसा संकेत पीछे दिया गया है। यह और साफ होने की दरकार रखता है। आधुनिकता समकालीनता को संस्कार देती है।[1] समकालीनता संस्कार-प्राप्त है और उसमें से अनुस्यूत समकालीनबोध एक संस्कार है। इसी स्तर पर समकालीनता और समकालीनबोध अपने युग की कुल समसामयिकता से अलग हो जाते हैं। यह अलगाव एक बिन्दु माना जा सकता है। समसामयिकता का शेष असंस्कृत भाग नदी की सतत प्रवाहमान जलधारा से कट कर किसी जोहड़ के रूप में परिणति पाता है और अपना युग चुक जाने पर सड़ांद से भी भर जाता है, जबकि समकालीनबोध आधुनिकबोध की सापेक्षता में जीवन के जीवंत रूप में बराबर गतिशील रहता है। आधुनिकबोध न केवल समकालीनता को संस्कार ही देता है वरन् उसकी नई व्याख्या भी करता है। समकालीन स्थितियों को बोध के रूप में स्वीकार भी करता है और समकालीनबोध के रूप में प्रतिपादित भी।

आधुनिकता और समकालीनता की यह आपसी व्यावहारिक समझ है, जिसके टूटने पर इनके आपसी रिश्ते उलझे हैं और सुलझाने के प्रयत्नों में और टूटे हैं। ऐसी उलझाव की स्थिति में समकालीनता मात्र समसामयिकता ही रहती है जो खण्डित सत्यों का चयन-चर्वण और प्रस्तावना करती है। समसामयिकता को यदि कोई अर्थ प्राप्त करना है, संस्कार लेना है, तो उसे आधुनिकता के मातहत तो नहीं मगर उससे बावस्ता जरूर

---

१. द्रष्टव्य : कमलेश्वर : कुछ विचार बिन्दु
समकालीन कहानी : दिशा और दृष्टि : डा० धनंजय

रहना होगा। ऐतिहासिक प्रक्रिया की यह जबरदस्त शर्त है। इस ऐतिहासिक प्रक्रिया से अलग हटकर आधुनिकता और समकालीनता की बात करना एक बड़ी बदतमीज़ी से कम नहीं। यह एक हास्यास्पद स्थिति है जो प्रकारांतर से समय से कटी समकालीनता है। वह समकालीनता का दम तो भरती है, मगर उसके ऐसे सभी दावे उपर्युक्त ऐतिहासिक प्रक्रिया के खिलाफ पड़ते हैं। जब-जब भी आधुनिकता का चिंतन समकालीन रचना संदर्भों में हुआ है, तब-तब दोनों का स्वरूप उभरा है, उनकी ग्रामर बनी है, उन्हें मुहावरा मिला है।[1] उसका यह तेवर भी उभरा है, कि इतनी ऐतिहासिक निकटता के बावजूद भी दोनों में एक अंतर बराबर उपस्थित रहता है, कि यह अंतर मात्र समय का ही नहीं अंतर्दृष्टि का भी है ? यह सब होने पर भी आधुनिकता आधुनिकता ही है और समकालीनता समकालीनता ही है।

समकालीनता आधुनिकता से किसी भी समझौते से पहले अपनी ऐतिहासिक प्रक्रिया में उससे कई मोर्चों पर टक्कर लेती है। तब कहीं उनमें एक दीर्घकालिक समझ, सरोकार और रिश्ता बनता है। अतिरिक्त इसके समकालीनता को एक सीधा जंग में भी दो-दो हाथ होना पड़ता है। उसकी सरहद्दी चौकियों से लेकर केन्द्रीय ठिकानों तक ये गुरिल्ला लड़ाइयां अनेक रूपों में लड़ी और जीती जाती हैं।

यह युद्ध एक तरह से आंतरिक खानाजंगी है, जो समकालीनता और समसामयिकता में चलती है। समकालीनता के प्रगतिशील तत्त्व समसामयिकता के प्रतिगामी फासिज्म से लोहा लेते हैं। यह समकालीनता का द्वंद्व है।[2] द्वंद्व व्यतीत और अनागत से, म्रीयमाण रूढ़ियों से।

अपने 'आज' में खड़े होकर समकालीनता को अपने युद्ध में लड़ने पड़े हैं। उसे बराबर हथियारबंद होना पड़ा है। समकालीनता सर्वांशतः अपने अतीत से विच्छेदित नहीं हो सकती। यह उसकी ऐतिहासिक प्रक्रिया का अनुरोध है—क्यों जो बीत चुकी समकालीनता के काफी अंश आगामी युगों में अपनी प्रासंगिकता खोज निकालते हैं और आगामी युग की समसामयिकता का हिस्सा बनकर उस युग की समकालीनता में स्वीकृति पा लेते हैं। वे दोनों एक-दूसरे को रूपांतरित करते आये हैं। दोनों में सानुबंधता है। वे अपने वर्तमान में खड़े होकर तथा आधुनिक भाव-बोध का सहारा लेकर व्यतीत से अपना शक्तिकोश समृद्ध करते हैं। अपने वर्तमान को अपने और अधिक अनुकूल बनाते हैं। परन्तु यह सानुबंधता जोखिम से भरी है। यह रास्ता चालू और उत्तेजक मुहावरों

---

१. द्रष्टव्य : (क) श्री अजित कुमार : कविता का जीवित संसार, पृ० ४४
(ख) डा० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय : परिप्रेक्ष्य और प्रतिक्रियाएं, पृ० ११७
(ग) डा० देवीशंकर अवस्थी : एक समीक्षक के नोट्स—सन् साठ के बाद की कहानी डा० धनंजय : समकालीन कहानी : दिशा और दृष्टि), पृ० ८४२
(घ) मोहन राकेश : समय से कटी हुई समकालीनता, बकलमखुद, पृ० १३९
(ङ) अशोक वाजपेयी : युवा लेखन : साहस और उग्रता की पड़ताल फिलहाल, पृ० ५१
२. द्रष्टव्य : सुरेन्द्र चौधरी : समकालीन कहानी : एक रचनाशील संघर्ष, (डा० धनंजय) समकालीन कहानी : दिशा और दृष्टि, पृ० १४७

की ओर भी ले जा सकता है। यह कोई कम खतरा नहीं। इसमें पुरस्कृत होने की संभावनाएं भी बहुत उजागर नहीं हैं...क्योंकि केवल आज कल के साथ किसी किस्म की संपृक्ति से ही आधुनिक नहीं हुआ ज़ा सकता।[1]

उपर्युक्त 'सानुबंधता' के संदर्भ में एक बार फिर यह प्रश्न उठता है कि बीते कल से किस उपजीव्यता की संभावना हो सकती है? समकालीनता किस प्रकार उसको स्वीकार करे? उत्तर के रूप में कहा जा सकता है कि व्यतीत से परंपरा को, बिना कोई खतरा मोल लिये, समकालीनता के अंतर्गत स्वीकार किया जा सकता है। यहां यह कहना बेमायना होगा कि परंपरा से अभिप्राय है जीवंत प्रणाली। समकालीनता में परंपरा निषिद्ध नहीं और न परंपरा में समकालीनता ही वर्जित है। प्रत्युत एक-दूसरे के अग्राग्रसरण में ये दोनों रहते हैं।[2]

समकालीनता की मिजाज-गत एक और पहचान भी है, जो उसे अविराम रूप में काल-चक्र से संबंध रखती है। यह शिनाख्त है उसके भीतर की द्वंद्वात्मक स्थिति। समकालीनता इस प्रक्रिया में अपने वर्तमान में ही एक ओर व्यतीत को समर्पित होती रहती है और दूसरी ओर अनागत में अपनी संभावनाएं खोजती है। एक स्थिति में तिल-तिल क्षरित होना और तिल-तिल जुड़ते जाना, यह अपने आपमें एक द्वंद्वात्मक स्थिति है। यह द्वंद्वात्मकता क्योंकि उसकी संपूर्ण प्राणचेतना से जुड़ी है, सो यह उसकी एक अनिवार्य अपेक्षा है। इसकी गैरहाजिरी में समकालीनता महज एक समसामयिक काल-प्रवाह बनकर रह जायेगी। वह अनागत संभावनाओं में बिना किसी अर्थ और विश्वास के अपनी तात्कालिक तुरंतता में व्यर्थ और व्यतीत होती जायेगी। ऐसी स्थिति में ही यह मसला उसके अस्तित्व के लिये एक गंभीर चुनौती बनकर आता है। ऐसे में यह न केवल आवश्यकता प्रत्युत अनिवार्य हो जाता है कि समकालीनता जहां अपनी काल-प्रक्रिया में व्यतीत को विसर्जित हो, अपनी प्रासंगिकता चुक जाने पर म्रियमाणता की भूमिका में आए, वहां वह भविष्य की वर्तमानिक संभाव्यता को भी अविराम ग्रहण करती जाये। तभी उसकी यह द्वंद्वात्मक स्थिति बनी रह सकती है। यही स्थिति-समकालीनता को रचनात्मक ऊर्जा प्रदान करती है। इसी बिंदु से समकालीनता की दोहरी भूमिका उदित होती है।[3]

---

१. द्रष्टव्य : (क) श्री पतराये : समकालीन हिंदी कहानी में नई संवेदना, वही, पृ० ९८

(ख) अजित कुमार : समसामयिक कविता और उसका मूल्यांकन : कविता का जीवित संसार, पृ० ४४

(ग) कमलेश्वर : कुछ विचार बिंदु : समकालीन कहानी : दिशा और दृष्टि (डा० धनंजय), पृ० ८२

२. द्रष्टव्य : (क) श्री पतराये : समकालीन हिंदी कहानी में नई संवेदना : समकालीन कहानी : दिशा और दृष्टि (डा० धनंजय), पृ० ९८

(ख) डा० भगवतशरण उपाध्याय : समीक्षा के संदर्भ : इतिहास के स्थान पर परंपरा, पृ० २०७

३. द्रष्टव्य : सुरेन्द्र चौधरी : समकालीन कहानी : एक रचनाशील संघर्ष समकालीन कहानी : दिशा और दृष्टि (डा० धनंजय), पृ० १४७, ४८

समकालीनता पहले संस्कारित होती है और बाद में स्वयं एक संस्कार भी बन जाती है। यही संस्कार उसे एक दृष्टि बनाता है। ऐसी दृष्टि जो आधुनिकता से अलग किंतु विरोधी नहीं प्रत्युत सर्वथा समानांतर है। यह समानांतरता बहुत ही निकट की है जैसी कि किसी हाशिये में दो सुर्ख-रेखाओं की। दोनों एक-दूसरे के आशय, अभिप्राय, को आपसी सरोकार और मुद्दे को निगूढ़ करती हैं। यही स्थिति आधुनिकबोध और समकालीनबोध की भी रहती है। एक संभोगक है और दूसरी संभोग्या। इस रिश्ते के वावजूद भी दोनों में प्रक्रियात्मक एवं ऐतिहासिक अलगाव रहता है। क्योंकि यह अंतर बड़ा सूक्ष्म है, इसलिए समसामयिकता के फलक पर हाशिये की भांति खिंची ये दोनों समानांतर रेखायें दूर से एक होने का भ्रम भी खड़ा करती आयी हैं। इसीलिए इनके बारे में बड़ी भ्रामक धारणायें भी बनी हैं, जो अभी तक बहुत लंबी और बड़ी बहसों के बावजूद साफ नहीं हो पायी हैं। इन शीशों की प्रक्रियात्मक पारदर्शिता पर उनकी चिकनाहट अभी काफी जमी है। अभी तक यह समझने के लिए भी लोग पूरी तरह तैयार नहीं हो पाये हैं कि आज के संदर्भ में जिस समकालीनबोध अथवा दृष्टि की बात की जाती है, वह अपने आम अभिप्राय में 'आधुनिकबोध' से तो अलग है मगर हाशिये की एक रेखा की भांति आधुनिकबोध के सर्वांशतः निकट है और एक रिश्ते में 'सानुबंधता' में जुड़ी है, और अपने आप में एक निरंतर परिवर्तन-बोध के अन्वेषण की प्रक्रिया के रूप में सामने आती है, समानधर्मा रचनाकारों के बोध की समानधर्मिता के रूप में स्वीकृति पाती है। परंपरा की जड़ता से कटकर अनागत में अनुकूल संभावनाओं की खोज में अपने वर्तमान से लड़ती है। आगत और अनागत के महाजों पर इसे युद्ध-वंचिकाएं देती हैं।[1]

समकालीनता के संदर्भ में नये पुराने का सवाल भी बराबर और बार-बार उठा है। क्या संपूर्ण व्यतीत पुराना है? क्या संपूर्ण वर्तमान नया है? वस्तुतः काल-क्रम से कटाव, विच्छेद का नाम पुराना नहीं, प्रत्युत अपने समय की वास्तविकता से अलगाव ही पुरानेपन की सही तसदीक है। यहां एक बार पुनः परंपरा की बात अपनी सफाई मांगती है क्यों जो अपने वर्तमान में नये होने का दावा करता है, उसे यह भी दम भरना होगा कि नये युग में परंपरा मरती नहीं, उसके जीवंत वीर्य से संगर्भित काल-चक्र नये को जन्माता है। प्रत्येक नये में परंपरा की वंशानुगत गोत्रता उपस्थित रहती है, जो पीढ़ी-दर-पीढ़ी चलती है। परंपरा के रचनात्मक द्वंद्व की भूमिका में ही समकालीनता न केवल अपने वर्तमान में अपेक्षित अर्थ पाती है बल्कि भविष्य की संभाव्यता को भी खोजती रहती है। इसी में उसे आगे चलकर अर्थवान होना है। इस प्रकार समकालीनता अपनी पहचान स्वयं देने लगती है। जो अतीत के शव से मुक्ति का अपने आपमें एक तसदीक-

---

१. द्रष्टव्य : (क) डा० गंगाप्रसाद विमल : समकालीन कहानी : जीवन-दृष्टि का परिप्रेक्ष्य। धर्मयुग २७ मार्च, १९६६, पृ० १७-२७
(ख) सकलदीप सिंह : जीवन-बोध : बनाम समसामयिक कहानी : समकालीन कहानी : दिशा और दृष्टि (डा० धनंजय), पृ० १७८

शुदा हलफिया ब्यान हैं।[1]

समकालीनता की इधर एक और तसदीक हुई है, जो इसे व्यतीत और भविष्य से जोड़ती है। ऐसा लगाव उसका प्राण-तत्व माना गया है। यदि ऐसा नहीं तो किसी प्रकार की समकालीनता, समकालीन संसार और समकालीन आदमी की बात करना मात्र बकवास होगा।[2]

बहरहाल इस लंबी बहस के दौरान जो मुद्दे साफ हुए हैं उन्हें काफी हद तक ऐसे 'मोहेश्वर सूत्र' माना जा सकता है, जिनके आधार पर समकालीनता की 'व्याकरण-रचना' की मात्र संभावनाएं हो सकती हैं।

१. द्रष्टव्य : (क) श्री अशोक वाजपेयी : नये की प्रतिष्ठा और पुराने का सवाल। धर्मयुग, २८ जून, १९६४, पृ० १६

(ख) श्री मोहन राकेश : आधुनिकता के तत्व बनाम भारतीयता के तत्व (एक परिचर्चा)। धर्मयुग, ४ अगस्त, १६, १९६४, पृ० १६

(ग) डा० रामदरश मिश्र : आज का मुख्य प्रश्न। धर्मयुग, २६ जुलाई, १९६४, पृ० १०, ३४

(घ) श्री निर्मल वर्मा : बीसवीं शती की केन्द्रीय मानवीय स्थिति। धर्मयुग, ७ सितम्बर, १९६४, पृ० १७

२. द्रष्टव्य। ग्राजिवालिनी : सामयिक संसार कहीं नहीं है। धर्मयुग, ६ जून, १९६५, पृ० १०

समकालीनता : समकालीनबोध : प्रक्रियात्मक रिश्ते

समकालीनता और समकालीनबोध के आपसी रिश्तों की पहचान के लिए इनकी प्रक्रियात्मक-स्थिति का विचार करना आवश्यक है। समकालीनता की बात करने से पूर्व समकालीनता और समसामयिकता के बुनियादी अंतर को साफ करना इसलिए और भी आवश्यक हो जाता है कि यदि इनको एक मानने की भ्रामक धारणा का निराकरण न किया गया तो समकालीनता और समसामयिकबोध को लेकर होने वाली कुल ज़रब-तकसीम गलत हो जायेगी और जो भी हासिल होगा वह नितांत अशुद्ध होगा। अस्तु।

उपर्युक्त प्रक्रिया की चर्चा की पहली अपेक्षा है समसामयिकता और समकालीनता के अंतर को जानना। इधर भाषा का परंपरागत मुहावरा, आज के एकांत परिवेश और इसमें उत्तरोत्तर निरर्थक हो रहे मानव को पकड़ने में काफी झूठा पड़ा है। उसकी अक्षमता सामने आयी है। शब्द न केवल हल्के हुए हैं, फीके पड़े हैं, बल्कि उनके आशय, अभिप्राय भी खंडित हुए हैं। इसी विन्दु पर आकर समसामयिकता से कोशगत अर्थ की सानुबंधता के बावजूद भी समकालीनता दूर जा पड़ी है। उनकी ध्वनि बदली है। उनकी जमीन में काफी बदलाव आ गया है, जिसे भाषा का चालू 'इंडियम' अभिव्यक्ति देने में शर्मिन्दा साबित हो रहा है।[1]

समसामयिकता अपने युग की कुल चेतना है। कुल-युगबोध का अर्थ-परिवहन उस द्वारा होता है। कुल युगबोध क्या है? एक काल और स्थान खण्ड में प्रसारित संपूर्ण युग चेतना जिसमें विगत, व्यतीत, भूत की, बहुत बड़ी मात्रा में, न केवल रीति बल्कि अधरीति संभावनाओं की छायाएं-प्रतिछायाएं समायी रहती हैं। वे न केवल अप्रासंगिक बल्कि अवैध विस्तार पाती हैं। इस प्रकार समसामयिकता में एक प्रकार की 'वर्ण-संकरता' विद्यमान रहती है।

जबकि समकालीनता में रक्त की पवित्रता और कुल-गोत्र की शुद्धता रहती है। वह समसामयिकता का केवल प्रासंगिक और वैध रूप ही है। इस प्रकार उसका अपनी युगचेतना के 'कुल' पर कोई दावा नहीं रहता, परन्तु वह उसके जीवंत शक्तिकोश की वारिस होने का दम अवश्य भरती है। समसामयिकता और समकालीनता एक दूसरे के विरोधी और विपरीत नहीं परन्तु एक दूसरे से अलग और कुछ दूर अवश्य हैं। कहना

१. द्रष्टव्य : डा० देवी शंकर अवस्थी : एक समीक्षक के नोट्स : सन् साठ के बाद की हिन्दी-कहानी. समकालीन कहानी : दिशा और दृष्टि, पृ० ८५

चाहूंगा कि समकालीनता समसामयिकता की आधुनिकता है अर्थात् उसकी सप्रश्नता अथवा प्रश्नशीलता है।

समकालीनता भी एक वैसी ही प्रक्रिया है जैसी कि आधुनिकता। आधुनिकता की अविराम प्रक्रिया एक युग की समकालीनता की सापेक्षता में कुछ परिणतियां जन्माती है, जिन्हें आधुनिकबोध कहा गया है। आधुनिकता की प्रक्रिया चूंकि अविराम है इसलिये वह सभी युगों में मूलत: एक है, उसके प्रक्रियाचक्र की गति में भले ही कोई अन्तर आ जाये। इसी प्रकार समकालीनता की प्रक्रिया से समकालीनबोध परिणति के रूप में जन्म पाता है। समकालीनबोध की एक विशिष्ट प्रक्रियात्मक भूमिका भी रहती है। वह आधुनिकता की प्रक्रिया के लिये एक ऐसी युग-सापेक्षता बनता है जो आगे चल कर आधुनिकबोध को जन्माती है। अत: समकालीनता एवं समकालीनबोध आधुनिकता एवं आधुनिकबोध की बहुत बड़ी दरकार है।

समकालीनता की प्रक्रिया समसामयिकता की ज़मीन पर गति पकड़ती है। इसीलिये दोनों परस्पर-विरोधी नहीं प्रत्युत प्रक्रियात्मक रिश्ता भी लिये हैं। समसामयिकता की चक्राकार संक्रमणशीलता और संक्रांत-बिन्दु पर उसका 'वर्ण-संकर' रूप ही समकालीनता को जन्माता है और वह संपूर्ण परिवेश के प्रति एक गैर-समझौतावादी रुख लेकर गतिमान हो उठती है। समकालीनता की प्रक्रिया समसामयिकता की सापेक्षता में मंथर-अमंथर किन्तु निरंतर रूप में गतिशील बनी रहती है। उसका गैर-समझौतावादी रूप प्राय: विद्रोही भी बना रहता है। इसमें समसामयिक परिवेश के मृत दृढ़ के प्रति अस्वीकार भी बढ़ता रहता है। उन्हें तोड़ने में जहां वह स्वयं को असमर्थ अनुभव करती है, वहां उसमें उसी अनुपात में आक्रोश भी मचलने लगता है। इस प्रकार अस्वीकार और आक्रोश उसके गैर-समझौतावादी रूप की दो ऐसी मुद्राएं हैं जो इसे सतत प्राणवान और स्वस्थ बनाये रखती हैं। इसी कारण इसके चरित्र में ऐसी वर्चस्विता और स्वरूप में गरिमा आ जाती है, जो इसे आधुनिकता की वरेण्या बना देती है।

उपर्युक्त सीमाओं-सापेक्षताओं में समकालीनता का प्रक्रियाचक्र, अविराम संत्वरित रहता है। गैर-समझौतावादी चेतना का अक्षांश और अस्वीकार आक्रोश, असंतोष की अराएं इसकी गति और परिक्रमा-चक्रों को संतुलित बनाये रखती है। यह चक्र निर्बाध गति से समसामयिकता को छीलता-छानता है, काटता और बीनता है, तब हमें प्राप्त होती हैं कुछ परिणतियां, जिन्हें समकालीनबोध की विभिन्न मुद्राएं-भंगिमाएं माना जाता है, जिससे समकालीनबोध का चेहरा-मोहरा बनता है चरित्र और व्यक्तित्व रूपायित होता है तथा उसकी अस्मिता और अस्तित्व एक अर्थवान स्वीकृति पाते हैं। यह स्वीकृति उसे आधुनिकबोध से प्राप्त होती है।

जहां समकालीनता की प्रक्रिया सतत एवं अविराम है वहां समकालीनबोध ऐसा नहीं। वह अपने युग की सापेक्षता में ही न केवल रूपान्वित होता है प्रत्युत अपनी प्रासंगिकता भी सिद्ध करता है। जैसे ही युगीन संदर्भों में उसकी प्रासंगिकता चुकने लगती है, स्वयं भी पुन: समसामयिकता के रूढ़ ढूह में कूड़ा बनने लगता है। इस दृष्टि से समकालीनबोध पूरे परिवेश पर तनी समसामयिकता की शिंजनी से संचालित एक अग्निबाण

है सदा ज्वलंत रहना इसका जीवन है, और बुझ जाना इसकी मृत्यु है या किसी दिशाहीनता में लक्ष्य-विच्युत होकर एक निरर्थकता में गिर जाना है।

समकालीनबोध एक ओर परिणति-परक सिद्धि है और दूसरी ओर स्वयं में एक अविराम साधना भी है समकालीनता की प्रक्रिया से परिणति के रूप में वह जन्म पाती है और लगातार अपनी प्रासंगिकता साबित करने की साधना में जीवन पाती है, इसके लिये उसे निरंतर संघर्षशील बनना पड़ता है, क्योंकि मात्र जन्म लेने से बात नहीं बनती बल्कि उसे समसामयिक संदर्भों में अपनी सही भी साबित करनी होती है। इस कार्य में चूक जाने का अर्थ है समकालीनबोध का संदर्भहीन हो जाना अथवा उसका अपनी समकालीनता से कट जाना और एक ऐसा खोटा सिक्का बन जाना जो अपना समकालीन मूल्य खोकर पुरातात्विक मूल्य पाने लगता है।[1]

समकालीनता की कोई एक परिणति संपूर्ण समकालीनबोध नहीं बन पाती है। उसे ऐसी अनेक परिणतियों की दरकार रहती है। वस्तुतः जैसे समसामयिकता अपने आप में एक काल-प्रक्रिया है और समकालीनता उसमें ही किन्तु उससे भिन्न एक अन्य प्रकार की प्रक्रिया है ठीक ही समकालीनबोध भी प्रकारांतर से एक प्रक्रिया है। एक बड़े लीवर के साथ एक प्रक्रियात्मक यांत्रिकता में जुड़े अन्य छोटे-छोटे लीवर हैं। जो एक साथ ही गतिमान होते हैं। एक दूसरे की सापेक्षता में गतिमान होते हैं।

ससकालीनबोध भी प्रकारांतर से एक प्रक्रिया है। समकालीनता की कोई भी परिणति तुरंत न तो संपूर्ण समकालीनबोध बन जाती है और न उसकी कोई खास मुद्रा ही। प्रत्येक समसामयिकता के साथ एक समकालीनता रहती है और समकालीनता का एक चालू समकालीनबोध भी रहता है। समकालीनता की प्रक्रिया से जैसे ही कोई नयी परिणति जन्म लेती है, वह एक ओर संपूर्ण परिवेश में अपनी प्रासंगिकता ढूंढती है, दूसरी ओर अपने वक्त के समकालीनबोध में स्वीकृति पाने का भी प्रयत्न करती है। प्रत्येक ऐसी परिणति को समकालीनता की तसदीक हासिल करने पर भी पुनः व्यापक परिवेश में एक व्यावहारिक समर्थन प्राप्त करनी होती है। समकालीनता के कारखाने से बन कर निकलने वाले इन कल-पुर्जों को समय की बड़ी मशीन में जुड़कर अपनी व्यावहारिक एवं प्रासंगिक क्षमता सिद्ध करनी होती है। इस प्रकार समकालीनता की प्रत्येक परिणति को समकालीनबोध के गतिमान रूप से जुड़ने के लिये एक विशेष प्रक्रिया में गुजरना पड़ता है। अनेक परिणतियां इस प्रक्रिया में जुड़कर समकालीनबोध का मिजाज, प्रकृति, रूप, गठन निश्चित करती हैं, उसे व्यक्तित्व प्रदान करती हैं।

समकालीनबोध स्वयं अपने आप में एक प्रक्रिया भी है। यह बात भली-भांति विश्लेषित हो चुकी है। अब विचारणीय यह है कि समकालीनबोध का स्वरूप और चरित्र हमेशा एक-सा क्यों नहीं रहता? समकालीनबोध यदि परिणतियों की मात्र सामायिक चेतना ही रहता तब यह आवश्यक होता कि उसका स्वरूप सदा सर्वदा के लिए अपरिवर्तित रहता। परन्तु समकालीनबोध समकालीनता की प्रक्रिया से प्राप्त

---

१. द्रष्टव्य : मोहन राकेश : समय से कटी हुई समकालीनता, बक़लमखुद, पृ० १३६, ४५

किन्हीं या कुछेक परिणतियों का सामायिक संघात मात्र नहीं। ये परिस्थियां स्वभाव से ही विकासमान रहती हैं। गर्भ-प्रक्रिया में विकास पाकर वीर्य-बिंदु शिशु-रूप में परिणति पाता है। क्या परिणति के बाद में कोई अपना विकास नहीं होता है? होता है। ठीक वैसे ही जैसे कि शिशु का। इस प्रकार समकालीनता की विविध परिणतियां एक अविराम प्रक्रिया में समकालीनबोध की प्रक्रिया में जुड़ती रहती हैं। ये गोत्रत: भले ही एक हों परंतु स्वभावत: भिन्न भी हो सकती हैं। यही प्रक्रियात्मक विभिन्नता समकालीनबोध के स्वभाव और चरित्र में परिवर्तन लाती हैं। समकालीनबोध की प्रक्रिया में सभी परिणतियां हमेशा के लिए जुड़ी नहीं रहतीं। यह प्रक्रिया एक ओर रीत चुकी और अप्रासंगिक हो चुकी परिणतियों को 'वेस्ट' रूप में स्वयं से छिटकती जाती है, दूसरी ओर नवीन परिणतियों को स्वीकार करती जाती है। यह चक्र चलता रहता है और परिणतियां चेन-कड़ियों के रूप में चक्र पर चढ़ती चलती हैं और एक बिंदु पर आकर उस पर से उतर जाती हैं। समग्रत: इसीलिये समकालीनबोध के टैंपर और शख़सीयत में अंतर आता रहता है, जो स्वत: यह साबित करता है कि समकालीनबोध अनेक परिणतियों का संघटन मात्र नहीं, प्रत्युत स्वयं में भी एक जीवंत प्रक्रिया है। परिणतियों को स्वीकारने और नकारने की गतिशील प्रक्रिया है।

समकालीनबोध : साहित्य में रूपांतरण-प्रकिया

समकालीनबोध की साहित्य में रूपांतरण-प्रक्रिया पर विचार करने के लिये एक बार पुनः साहित्य में समसामयिकबोध की रूपांतरण-प्रक्रिया पर विचार करना आवश्यक है।

समसामयिकबोध अपने युग के साहित्य में प्रायः निर्बाध अभिव्यक्ति पाता है, क्योंकि यह एक तो समय का प्रबल प्रभाव है जिससे अनछुआ रहना लगभग असंभव ही है, दूसरे समसामयिकबोध जीवन की ऊपरी परतों पर काफी स्थूल विस्तार पाता है, सो सहज ही पकड़ में आ जाता है। समसामयिकता काल-चक्र का ऐसा प्रवाह है जिसमें पीछे छूट चुकी उपत्यकाओं, वादियों की मिट्टी की गंध और रंगत बराबर रहती है, जबकि समकालीनता इस प्रवाह के विविध रंग-गंध भीने चरित्र में केवल उस धरती की रंग-गंध है जिस पर वह समसामयिकता का प्रबल-काल उस समय प्रवहमान हो रहा होता है। समकालीनबोध एक विशिष्ट सांप्रतिकता है जो कि समसामयिकबोध के अनेक विगत-बोधों का सांघातिक स्वरूप है।

समसामयिकबोध का चरित्र हमारे आज के समसामयिक परिवेश में स्पष्ट है और किसी और गंभीर व्याख्या की अपेक्षा नहीं रखता है। हमारा आज का समसामयिकबोध, पुरातनबोध, पूर्व मध्ययुगीनबोध, उत्तर मध्ययुगीनबोध की प्रमुख एवं उपछायाओं से संक्रमित है। ये विभिन्न बोध जिन-जिन रूपों में अपने आप युग के साहित्य में अभिव्यक्त हुए वे आज के समसामयिक साहित्य में किसी-न-किसी रूप में विद्यमान हैं। मध्ययुगीनबोध की वैष्णवी नैतिकता, निर्गुण-चेतना, समन्वय-सामंजस्य की भावना, स्थूल शृंगार की रुग्ण मानसिकता, द्विवेदी-युगीन आदर्शोन्मुखता, नैतिक आग्रह, छायावादी लिजलिजी रोमानी भावुकता, प्रगतिवादी खोखले नारे, हलावादी मुद्राएं, विध्वंसवादी गर्जनाएं, महाकाव्यीय प्रबंध-चेतना, आदि, आदि—ये सब कितना ठसाठस भरा पड़ा है हमारे समसामयिक साहित्य में? कहां से आयातित हुआ है यह? निश्चित ही यह हमारे उस समसामयिकबोध का संदान है, जो विगत युगीन-विविध बोधों से आक्रमित है। इस समसामयिकबोध में पीछे छूट चुकी वादियों, तलहटियों की कितनी मिट्टी धुली है, जिसने इस संपूर्ण काल-प्रवाह को इस सीमा तक राजस्वल कर दिया है कि अपने वर्तमान में यह समसामयिक स्रोत जिस धरती पर बह रहा है उसका रंग उसमें बदरंग हो गया है, उसकी गंध उसमें निर्गंध हो गयी है।

समसामयिकबोध और समकालीनबोध का यह संक्रांत-बिंदु और संक्रमण-क्षण है। समसामयिकबोध की ग्रहण-कालिमा समकालीनबोध के आलोक-वृत्त को आच्छन्न करने में प्रयत्नशील रहती है, परन्तु समकालीनबोध के प्रखर-आलोकबाण इसे छिन्न-भिन्न करने के लिए उद्यत रहते हैं। यह है टकराहट की स्थिति। संघर्ष का मोर्चा। ग्रहण की स्कंधहीन ग्रीवा से प्रकाश की किरणें छन-छन कर बाहर आती रहती हैं। इस प्रकार इस टक्कर से समकालीनबोध और अधिक तपःपूत और प्रामाणिक बन कर अपनी सांप्रतिक प्रासंगिकता की उद्घोषणा करता हुआ फूटता है, प्रत्युत छूटता है, कान तक खिंची धनु-प्रत्यंचा से विक्षिप्त-अग्निबाणों की भांति, ग्रहणांधकार की वज्र छाती को चीरता हुआ।

समकालीनबोध कथ्य का परिवर्तित संसार लेकर आता है और रचनाशीलता को नया माध्यम देने का प्रयत्न करता है। उसके साक्षात्कार की दिशाएं, अन्वेषण की ज़मीनें, अनुभव के जंगल सर्वथा अलग रहते हैं। इसलिये समकालीनबोध अनुभूत और अन्वेषित की उपर्युक्त नव्यता के कारण परंपरित और खास किस्म की समसामयिकता से प्रतिबद्ध, बोध-बोसीदा माध्यमों को नकारता है। उसके प्रखर नव-अनुभूत को संप्रेषित करने में वे माध्यम स्वयं को असमर्थ अनुभव करते लगते हैं। वे चरमरा कर रह जाते हैं और साहित्य में विधासंकरता की स्थिति आने लगती है। विधाएं धुरीहीनता में विच्युत हो उठती हैं और किसी अन्य केंद्रीय-विधा की तलाश होती है। विधाओं में तात्विक तबदीलियां आती हैं। उनकी रूपगत रूढ़ियां टूटने लगती हैं और सामने आती हैं नव-अन्वेषित विधाएं, संस्कारित विधाएं, दीक्षित विधाएं, जो नव-अनुभूत के सहज-संप्रेषण का संकल्प लेकर चलती हैं और समकालीन रचनाशीलता को नयी इयत्ता, अस्मिता प्रदान करती हैं।

समकालीनबोध, परीक्षण एवं मूल्यांकन के भी प्रतिमानों को भी चुनौतता है। समसामयिक विश्लेषण से प्रतिबद्ध निकर्षों से, समकालीनबोध से अनुप्राणित सृजन का वैज्ञानिक मूल्यन संभव ही नहीं। जब-जब ऐसा हुआ है तब-तब न केवल अवमूल्यन, अधिमूल्यन की भ्रष्ट स्थितियां आयी हैं, प्रत्युत एक पूर्ण मूल्य-भ्रंशता का निर्वात-रूप सामने आया है। इसी ज़मीन से सर्वथा मूल्यांकन-निरपेक्षता अथवा ऐंटी-आलोचना का जहाद भरा स्वर भी बुलंद हुआ है। समकालीनबोध से संपन्न रचना-संसार के लिये माध्यम के संकट के बाद का यह दूसरा संकट है। समसामयिकबोध और समकालीन-बोध गुरिल्ला युद्ध की यह दूसरी चौकी है। इसी में समकालीन लेखक को भी अपना आलोचक स्वयं बनकर कूदना पड़ता है। कहना न होगा कि इस महाज़ पर समकालीन लेखक की दुहरी भूमिका रहती है। समकालीन अनुभूत के लिये नये माध्यम की तलाश, और फिर उसके मूल्यन के लिये नयी तुलाओं, बटखरों निकर्षों मानदण्डों की खोज और उनके संदर्भ में स्वयं ही अपना परीक्षण। अपना आलोचक स्वयं बनना, यह अग्नि-परीक्षा से कम नहीं। अपने सृजन को रंदे से स्वयं को छीलना; तराशना, अपनी खाल खेंचने जैसा कष्टदायक है और समकालीन लेखक इस काम में शहीद भी हुआ है।

इस प्रकार समकालीनबोध रचनात्मक और परीक्षात्मक साहित्य में रूपांतरण

पाने का प्रयत्न करता है।

क्या कोई समकालीन रचना अपने संपूर्ण चरित्र में समकालीन होती है? यह प्रश्न भी बार-बार कौंच रहा है। इसका उत्तर ढूंढने से पूर्व हमें अपने आप को उत्तर देना होगा कि हम अपने समसामयिक परिवेश में क्या संपूर्णतयः समकालीन हैं। समसामयिकता से सर्वांश असंपृक्ति न तो संभव है और न ही कम्य, क्योंकि समकालीनता समसामयिकता से अलगाव नहीं प्रत्युत समसामयिकता में ही एक प्रकार की प्रश्नशीलता है। अतः कोई रचना अपनी संपूर्ण भंगिमाओं में कितनी समकालीनता है—यह निर्भर करता है उसके लेखक पर, कि वह अपनी संपूर्ण रचनाधर्मिता में कितना समकालीन है। इसी अनुपात में उस रचना की समकालीनता का निर्णय होगा। प्रायः स्थिति यह रहती है कि समकालीन रचना में समसामयिकबोध की प्रतिछायाएं मिल ही जाती हैं। यह कोई दोष नहीं बल्कि पूरे युग की रचना-प्रक्रिया का स्वरूप है, जिसे बदला नहीं जा सकता। आवश्यक यह देखना हो जाता कि कोई रचना किस हद तक समकालीनबोध को संभाल पायी है और कितना 'बोल्डली' उसने समकालीनबोध की किन-किन मुद्राओं, तेवरों को अपनी इयत्ता का अंग बनाया है। किसी रचना के सर्वांश में समकालीनबोध के रूपांतरण की आशा करना किसी भी दृष्टि से संभव नहीं होगा।

समकालीनबोध का आधुनिकीकरण और आधुनिकबोध का समकालीनीकरण

समय स्वयं एक महान् और निरंतर गतिमान चक्र है। इसमें अनेक लीवर अविराम रूप से क्रियान्वित रहते हैं। समसामयिकता, समकालीनता, आधुनिकता ये छोटे बड़े लीवर तो एक ही अक्ष पर गतिमान रहते हैं। इनकी अपनी-अपनी गति है, मगर वह अपनी होते हुए भी दूसरे लीवर्स की गति की सापेक्षता में रहती है। ये एक-दूसरे से गति भी ग्रहण करते हैं और प्रदान भी। और अपनी समग्र गति में समय के महान गतिशील चक्र से भी जुड़े रहते हैं। अतिरिक्त इसके ये एक ओर व्यतीत से भी जुड़े रहते हैं और दूसरी ओर अनागत की संभावनाओं से भी। इस प्रकार समय के महान् गतिशील चक्र के भीतर भी अनेक गतिशील उपचक्र रहते हैं।

समकालीनबोध का आधुनिकीकरण और आधुनिकबोध का समकालीनीकरण प्रकारांतर से इन दोनों के प्रणयन-परिणयन का प्रश्न है। आधुनिकीकरण के अभाव में समकालीनबोध, अपनी समसामयिकता से कट जायेगा और अर्थहीनता में बिखर जायेगा। समकालीनीकरण के बिना आधुनिकबोध आयातित एवं आरोपित कहलाने की स्थिति में आ जायेगा। पीछे यह बात काफी साफ हो चुकी है कि ये दोनों एक-दूसरे को अर्थ देते हैं। अर्थ के भी कई विशद-अविशद स्तर रहते हैं। इन्हीं सन्दर्भों में उपर्युक्त प्रणयन-परिणयन की व्याख्या अपेक्षित हैं।

समकालीनता और आधुनिकता तथा समकालीनबोध और आधुनिकबोध के रिश्ते-सरोकारों की चर्चा में यह बात सामने आयी है कि समकालीनता वरेण्या और संभोग्या है तथा आधुनिकता वरणकारक और संभोक्ता है। इन्हीं सम्बन्ध सूत्रों की ओर अधिक गंभीर चर्चा में ऊपर उठाए गए प्रश्न का उत्तर मिल सकता है। भले ही वह अन्तिम उत्तर न हो, मगर वह एक प्रारंभिक उत्तर तो होगा ही।

समकालीनबोध और आधुनिकबोध एक-दूसरे की न केवल प्रक्रियात्मक—बल्कि ऐतिहासिक तथा पारिवेशिक दरकार भी हैं। इनमें आपसी समझ जितनी भी गहरी होगी उसी अनुपात में वे एक-दूसरे को अर्थ और प्रासंगिकता देंगे। इनमें आपसी 'डायलाग टूटना, संवादहीनता की स्थिति आ जाना—एक प्रकार से समय के महारथ चक्र को झटका लगना ही नहीं प्रत्युत करारी जरब लगना भी है। इससे न केवल उसकी अराओं बल्कि अक्ष और नाभि तक को भी क्षति पहुंचती है। इसलिये इनका न केवल

प्रणयन ही अपेक्षित है और न केवल परिणयन ही। अपेक्षित है एक भूमिका से दूसरी में स्थानांतरित होकर दोनों से संयुक्त रहना।

पिछले दिनों हिन्दी में एक बहस उठी थी—पति के अतिरिक्त पुरुष मित्र और पत्नी के अतिरिक्त महिला मित्र। काफी चर्चा रही और चली भी। कुछ बुजुर्गों ने एक बार पुनः बीच-बचाव का, मध्यम मार्ग का पुराना अकसीर और अचूक नुस्खा बताया—एक ही व्यक्ति दो भूमिकाओं में उतरे। एक ही व्यक्ति पति-मित्र का तथा एक ही महिला पत्नी और प्रेयसी का दायित्व ढोये। परिणय से पूर्व दोनों में प्रणयन हो और प्रणयन के बाद परिणय हो। प्रणय के बिना परिणय अपना व्यक्तिगत अर्थ खो बैठता है और परिणय के बिना प्रणय अपना सामाजिक अर्थ खो बैठता है।

कुछ-कुछ यही अपेक्षा है समकालीनबोध और आधुनिकबोध की कालक्रम की प्रक्रिया में। दोनों एक ही नाभि-केन्द्रित अक्ष पर परिक्रमित होते हैं। उनमें प्रणयन की संभावनाएं हैं। अच्छे पड़ोसियों की भांति वे इस प्रसंग में लाभप्रद स्थिति में हैं। प्रणयन का ही कालांतर परिणयन संस्कार पाना अनिवार्य हो जाता है, तभी उसकी रचनात्मक संभावनाएं अर्थ पाती हैं और उन्हें स्वीकृति मिलती है।

पीछे अर्थ के विशद-अविशद स्तरों की बात हुई है। समकालीनबोध का जितना आधुनिकीकरण होगा और आधुनिकबोध का जितना समकालीनीकरण होगा, उसी अनुपात में, उनके आपसी सम्बन्ध सहज, अनौपचारिक और आत्मीय होंगे। सम्बन्धों की निकटता का प्रश्न इसी अनुपात से जुड़ा है। और उनके आपसी अर्थ ग्रहण करने का प्रश्न इन सम्बन्धों से जुड़ा है। इन्हीं की सापेक्षता में उनमें विशदता-अविशदता का संचरण होता है।

समकालीनबोध का आधुनिकीकरण कैसे हो ?

आधुनिकबोध का समकालीनीकरण कैसे हो ?

ये दोनों प्रश्न मूलतः एक ही जमीन से जुड़े हैं। उसका उत्खनन आवश्यक है। यह जमीन है निरंतर प्रश्नशीलता की। समकालीनबोध और आधुनिकबोध दोनों में निरंतर प्रश्नशीलता रहती है। दोनों ऐसी प्रक्रिया की परिणतियां हैं जिनमें स्वतः संचालन की शक्ति इसी प्रश्नशीलता के कारण आती है। क्योंकि इसका होना एक अविराम नैरंतर्य में अपेक्षित है इसलिये उपर्युक्त स्वतः संचालन का व्यापार न केवल बराबर बना रहता है प्रत्युत वह इस प्रक्रिया में उत्तरोत्तर ऐसी शक्ति भी अर्जित करता रहता है जो इन प्रक्रियाओं को सदा सर्वदा के लिये जीवंत बनाये रखती है।

निरंतर प्रश्नशीलता की वेदी में उपर्युक्त दोनों प्रक्रियाएं स्वतः संचालित रहती हैं। इसी भूमि पर आधुनिकबोध समसामयिकता का संस्कार करता है। उसे अपने अनुरूप दीक्षा देता है। कहना न होगा कि संस्कार सम्पन्न समसामयिकता ही समकालीन-बोध जन्माती है। समकालीनबोध जन्म से ही आधुनिकीकरण की प्रक्रिया में आ जाता है। जहां और जब वह जितने अनुपात में आधुनिकीकरण की प्रक्रिया से कटेगा, वह पुनः विच्युत होकर समसामयिकता को समर्पित हो जायेगा।

पीछे यह विस्तार-सूत्र काफी विस्तार से परिर्चचित हुआ है कि समकालीनता संस्कारित होने पर एक पूरे कालचक्र में स्वयं भी एक संस्कार बन जाती है। अर्थात् एक ओर वह अपना आधुनिकीकरण करती है। दूसरी ओर आधुनिकता का समकालीनीकरण भी। सम्बन्धों की आत्मीय पारस्परिकता की यह निःसर्ग परिणति रहती है संस्कारित होना और संस्कारित करना। आधुनिकबोध आधुनिक की प्रक्रिया से विरासत में निरंतर प्रश्नशीलता पाता है। इसी प्रकार समकालीनबोध भी समकालीनता की प्रक्रिया से प्रश्नशीलता का पैतृकदाय पाता है। आधुनिकबोव और समकालीनबोध में यही सहर्धर्मिता है। समकालीनबोध अपने आधुनिकीकरण के साथ ही आधुनिकबोध का समकालीनीकरण आरम्भ करता है। यह एक अविराम प्रक्रिया है। यह संभव ही नहीं कि इसमें पड़कर समकालीनबोध का तो आधुनिकीकरण होता रहे और आधुनिकबोध का समकालीनीकरण न हो। यह सारी एक प्रक्रिया स्थिति है।

इस प्रक्रिया में यदि कोई भी व्यवधान पड़ता है तब आधुनिकबोध न केवल आयातित, आरोपित दर्शनमात्र बन जाएगा प्रत्युत विच्छेदन की भूमि में निर्वासित भी हो जाएगा। आधुनिकबोध के लिए यह अनिवार्य है कि वह समकालीन जीवन में अपनी संगति प्रमाणित करे, अपने औचित्य की भूमि ढूंढे तथा अपनी प्रासंगिकता को रचनात्मकता प्रदान करे। यदि आधुनिकबोध को अपनी समकालीनता की केंद्रीय मानवीय स्थिति बनना है तो उसे समकालीनबोध से रिश्ते और सरोकार स्थापित करने होंगे, उन्हें अर्थ देना होगा और उनसे अर्थ पाना भी होगा। ऐसी भूमिका में आधुनिकबोध को जानना, आधुनिक होना उतना ही सहज और आसान हो जाएगा जितना कि हवा में सांस लेना। अन्यथा आधुनिकबोध न केवल एक रूढ़िगत-संस्कार ही बन जाएगा वरन् स्वयं को एक तरह से व्यर्थ करने का अवसरवादी सुविधाजनक साधन भी बन जाएगा।[1]

आधुनिकबोध का समकालीनीकरण, उसका समकालीनता से समझौता नहीं और न समकालीनबोध के आगे हथियार डालना ही है। इसका आशय है आधुनिकबोध का समकालीन अनुभव-संसार एवं समकालीनबोध से सर्वथा सप्रश्न होकर गुजरना। अछूते रहकर नहीं प्रत्युत संपूर्ण सप्रश्न स्थिति में उससे बावस्ता होकर, उसे अपने में समेट कर और स्वयं को उसे समर्पित कर। तभी ये दोनों एक अर्थपूर्ण संपृक्ति पाएंगे जो इन्हें रचनात्मक एवं सृजनशील बनाएगी। इस पूरी यात्रा में जोखिम बराबर बना रहता है। आधुनिकबोध निरंतर प्रयत्नशीलता के अपने मूल विवेक से जैसे ही च्युत हुआ उसी समय वह समकालीनता की अग्नि-लपेट में आ जाएगा। तब वह आधुनिकबोध घोर व्यक्तिवादी दार्शनिक मुखौटा बन जाएगा। उसके पैगम्बराना फतवे व्याधि-पीड़ा भोगमात्र बनकर रह जाएंगे।[2]

---

१. द्रष्टव्य : (क) निर्मल वर्मा : बीसवीं शती की केंद्रीय मानवीय स्थिति। धर्मयुग, ६ सितंबर, १९६४, पृ० १७
(ख) श्री निर्मल वर्मा : शब्द और स्मृति, पृ० ६

२. द्रष्टव्य : कुबेरनाथ राय : मायावी शिखरों के प्रेक्षागृह : ज्ञानोदय। जनवरी, १९६५, पृ० ११

समानांतर जीवन से संयुक्त होने के लिए समकालीनबोध को भी आधुनिकता के जंगल में से गुजरना होगा। यहां किसी भी प्रकार के 'शार्ट कट' से काम नहीं चल सकता। बचाव का कोई मार्ग है ही नहीं। एक विकल्पहीन स्थिति में दोनों को एक-दूसरे के रूबरू होना पड़ रहा है। तभी समकालीनबोध प्रतिष्ठित हो पाएगा। उसे प्रामाणिकता मिलेगी। यह कार्य आधुनिकबोध का है परन्तु उसे भी समकालीन स्वीकृति पाने के लिए समकालीनबोध की तसदीक़ हासिल करनी होती है।[१]

इस प्रकार एक पूर्ण युगबोध के लिए आधुनिकबोध का समकालीनीकरण और समकालीनबोध का आधुनिकीकरण अनिवार्य है। यह स्वयं में एक काल-सापेक्ष प्रक्रिया है। इसके मंद-अमंद होने पर युगबोध खंडित हुआ है और आधुनिकता तथा समकालीनता के आपसी रिश्ते उलझे हैं और बेशुमार गलतफ़हमियां प्रचारित हुई हैं।

१. द्रष्टव्य : डा० देवीशंकर अवस्थी : आधुनिकता के तत्त्व भारतीयता के विरोधी नहीं हैं। धर्मयुग, २९ नवंबर, १९६६, पृ० १०

आधुनिकता और आधुनिकबोध : एक खुली बहस और जिरह

आज जब कि यूरोप में आधुनिकता के मरने की खबर फैल रही है,[1] तब उसके बारे में एक लंबी और खुली बहस का समारंभ कहीं से भी किया जा सकता है। हमारे यहां आधुनिकता के बारे में कोई लंबी बहस किए बिना ही उसे पारिभाषित करने की जल्दबाजी हुई है। एक लंबे अकादमिक डायलाग के बिना ही उसके बारे में संवाद-परिसंवाद हुए हैं। आधुनिकता के बारे में न तो हमारे पास कोई अपने सवाल थे और न ही जिज्ञासाएं। सारी ज़रब तक़सीम ही प्रायः गलत प्रकार की थी। जो जवाब हमें मिले वे न तो हमारे ही थे और न अधिकांशतः आधुनिकता से ही संबद्ध थे। मौलिक प्रश्नों के अभाव में अमौलिक उत्तरों से आधुनिकता की प्रक्रिया, स्वरूप और परिणतियां, तथा रूपांतरण के विविध आयामों के बारे में बहुत ही भ्रांतियां फैलती रही हैं। इस प्रकार हमने स्वयं ही आधुनिकता के बारे में अनेक खतरे भी खड़े किये हैं, प्रत्युत खतरे मोल लिये हैं।

आधुनिकता के बारे में हमारी जो परिभाषाएं रही हैं प्रायः वे किसी दर्शन की परिभाषण-प्रक्रिया के विपरीत रही हैं। स्वरूप-विश्लेषण के बाद जो निष्कर्ष प्राप्त होते हैं, उन्हीं के संदर्भ में परिभाषा को रूपायित किया जा सकता है। हमारी परिभाषाओं का यह दोष रहा है। उसे सीमा भी माना जा सकता है। इन मशालों को थामकर जब आधुनिकता की प्रक्रिया का सफर तय किया गया, तो इन मशालों से हाथ भी जले और उन जले हाथों के हाथ प्रायः अंधेरा ही लगा। यही बात और ढंग से भी कही जा सकती है। हमने अंधेरे में टटोल कर पूर्ण हाथी देखने का बड़ा दावा किया है। हाथी के एक अंग को छूकर ही हाथी जानने का दम भरा गया है। नतीजा यह निकला है कि न तो हाथ हाथी को लगा है और न हाथी ही हाथ लगा है।

परंतु आज स्थिति कुछ और है। एक तो यूरोप में आधुनिकता की सैद्धान्तिक चर्चाएं प्रायः समाप्त हैं, जो उसके समय पूर्व बिन आई उठ जाने की गवाह हैं, दूसरे आधुनिकता के हाथी का जलूस गुज़र चुका है। इसलिए यह निहायत आवश्यक है कि अब सभी अंधे एक साथ मिल-बैठकर अपनी-अपनी हाथी की परिभाषाओं से एक पूरा हाथी रचने की कोशिश करें। आधुनिकता के प्रवाह के शुरू-शुरू के कूड़े-कचरे को ही

---

१. द्रष्टव्य : डा० रघुवंश : आधुनिकबोध या संवेदना : परिशोध । अंक २०, पृ० ११

आधुनिकता समझने-समझाने की जो एक बड़ी भूल हो गई थी, उसे संशोधित करने का भी समय आ गया है, क्योंकि अब प्रवाह का रजस्वल स्वरूप साफ हो गया है।

वस्तुत: यूरोप में युद्धोत्तर चक्राकार संक्रमण-जन्य निर्वात की स्थिति भर चुकी है। वहां आधुनिकता एक परिणति थी, मूल्य-संकरता, मूल्य-भ्रंशता थी। वहां आधुनिक-बोध का यह रूप उठ गया है। अब आधुनिकता की एक और परिणति से आधुनिकबोध बन कर वहां के शून्य को अपनी रचनात्मक क्षमताओं से भर दिया है। आधुनिकबोध का सृजनशील स्वरूप वहां के दर्द और व्यर्थताबोध से लोहा ले रहा है, बल्कि अपना लोहा मनवा रहा है।

उपर्युक्त भूमिका में आधुनिकता, आधुनिकबोध पर कहीं से भी किसी संगत परिचर्चा का समारंभ किया जा सकता है। उसके किसी भी पहलू को छीला-तराशा जा सकता है, क्योंकि उसकी चर्चा आधुनिकता की प्रक्रियात्मक, ऐतिहासिक तथा सांस्कृतिक समग्रता के संदर्भ में ही होगी।

इस बिंदु पर आकर एक और समस्या से दो-चार होना पड़ रहा है।[१] यूरोप की किस आधुनिकता की चर्चा की जाए? उसके किस शिविर के संदर्भ में उसे विश्लेषित किया जाए? व्यक्तिवादी शिविर अथवा मार्क्सवादी शिविर? अथवा आधुनिकता विरोधी शिविर?[२] क्योंकि यूरोप में आधुनिकता सर्वथा सर्वांशत: एक स्वीकृत जीवन-दर्शन नहीं रहा है। उसे तानाशाही माना गया है तथा बेईमानी कारण भी। इसीलिए शिष्ट जन स्वयं को आधुनिक कहलाने में अपमानित अनुभव किया करते थे।[३] दो भयंकर विश्व-युद्धों के कारण यूरोप में कई दशकों तक युद्धपूर्व आतंक, युद्धकालीन विनाश और युद्धोत्तर संत्रास की प्रेतछाया समानांतर रूप में पड़ती रहती है और वहां का जनजीवन उससे संक्रमित होकर एक विसंगति बोध में स्वयं को व्यर्थ होता अनुभव करता रहा है। परिणामत: वहां अस्तित्ववाद जैसे घोर व्यक्तिवादी जीवन-दर्शन से लेकर क्रांतिकारी सामाजिक विद्रोह जैसे मानववादी जीवन-दर्शन का प्रचार हुआ। यूरोप की आधुनिकता इन दो अतिवादी ध्रुवों में फैली है, जिसकी न केवल विविध प्रत्युत विरोधी मुद्राएं हैं। किसी एक पर उंगली रखकर यह दावा नहीं किया जा सकता कि केवल यही आधुनिकता है और उसकी समग्रता का केंद्र-बिंदु है। संभावित युद्ध-आतंक की भयावह छाया में ऐसी बहुत-सी विरोधी-अविरोधी चिंतनधाराओं से यूरोपीय चिंतकों को भी अनिर्णय की स्थिति में डाला है। किस आधुनिकता की बात की जाए? कौन सी आधुनिकता प्रामाणिक है? पूंजीवादी देशों की अथवा समाजवादी देशों की?[४]

---

१. द्रष्टव्य : डा० बच्चनसिंह : आधुनिक संवेदना और हिंदी उपन्यास : परिशोध। अंक २०, पृ० ६५, ६६

२. चार्ल्स बोदलान् : मिथ आफ़ मार्डनिटी

३. द्रष्टव्य : डा० देवीशंकर अवस्थी : आधुनिकता के तत्त्व भारतीयता के विरोधी नहीं हैं। धर्मयुग, २९ नवंबर, १९६६, पृ० १०

४. द्रष्टव्य : सोशल फिलासोफीस आफ़ एन एज आफ़ क्राइसिस : सोरोकिन

इसीलिए आधुनिकता की सही पहचान बराबर एक समस्या रही है। विचारकों ने अपने-अपने ढंग से उसकी शिनाख़्त की है और उसी के गिर्द उनकी आधुनिकता संबंधी धारणाएं परिक्रमित होती आई हैं। नतीजा यह निकला है कि पल्ले केवल परिदक्षिणाएं पड़ी हैं और देवता नदारद हो गये हैं, प्रत्युत कूच कर गये हैं। आज हमारे हाथों में या तो खाली म्यानें हैं या तलवारों की मूठें। उन्हीं का मोल-तोल हो रहा है। उन्ही पर हम गर्व कर रहे हैं। वे ही हमारी उपलब्धियां (?) हैं।

अब आधुनिकता को परखने का लगभग ठीक समय आ गया है। अपनी समकालीन यात्रा में हम चोटी के उस मोड़ पर पहुंच गए हैं जहां से उसके सभी पड़ाव, चौराहे साफ-साफ दीख रहे हैं। यही वह वाजिब स्थान है, जहां आधुनिकता को लेकर हुई पूर्व चर्चाओं का मुआइना और अधिक संगत होकर उभरेगा। उनको सतही कहकर टाला नहीं जा सफता। एक तरह से आधुनिकता का सही मर्म उन्हीं में छिपा है, क्योंकि उनमें आधुनिकता का तुरंत और निकटतम साक्षात्कार निहित है। उसकी तात्कालिक प्रतिक्रिया में वे उठी हैं। उस मर्म को पहचानने के सही समय और स्थान पर हम खड़े हैं। यहां पर ही पूर्वकथित दो-दो दूरस्थ ध्रुवांतों के लंबे अंतराल में परिव्याप्त आधुनिकता की विरोधी-अविरोधी एवं विविध समग्रता में से उसके अपने परिवेश के अनुसार तत्त्व भी बीनने हैं। नए संदर्भों के अनुरूप उसकी प्रासंगिकता भी परखनी है।[1] सचमुच ही यह आधुनिकता की अग्नि-परीक्षा का समय आ गया है।

आधुनिकता की इस अग्नि-परीक्षा की दो दिशाएं हैं, इन्हीं में आधुनिकता की एक सोद्देश्य चर्चा उठेगी और उसमें से और अधिक साफ होकर आएगा—आधुनिकता और आधुनिकबोध का स्वरूप।

इस अग्नि-परीक्षा की दो दिशाएं इस प्रकार हैं :—

१. भारतीय संदर्भ में औचित्य सिद्धि।

२. राष्ट्रीयता से लोहा लेना।

इन दोनों दिशाओं में संतुलित और अप्रतिबद्ध चिंतन की अपेक्षा प्रायः पक्षधरता-पूर्ण, प्रतिबद्ध, पूर्वाग्रह एवं दुराग्रहपूर्ण रवैया ही अपनाया गया है। आज एक बार फिर जब इन दिशाओं में आधुनिकता को जांचने-परखने की बात उठ रही है तब हमें एक बार पूरी ईमानदारी से अपने-अपने खेमों से बाहर निकलकर प्रत्युत उन्हें भूलकर मानना होगा कि भारतीय नीति, व्यवहार की मूल प्रवृत्ति सदा ही सारभूत विचार-तत्त्व को ग्रहण कर उसे अपने सांप्रतिक संदर्भों में प्रतिष्ठित करने की रही है। न केवल विभिन्न प्रत्युत विरोध दिशाओं के प्रभाव यहां के जीवन-दर्शन में एकात्म होते रहे हैं।[2] ऐसा

---

१. द्रष्टव्य : आचार्य नंददुलारे वाजपेयी : आधुनिकता बनाम भारतीयता : पांच संदर्भों में। धर्मयुग, ८ नवंबर, १९६४, पृ० १३

२. द्रष्टव्य : Dr. B.L. Atreya : The Spirit of Indian Culture. Ed. 1952, Page 12.

मानकर चलने से ही आधुनिकता की सही नब्ज़ पर उंगली रखी जा सकती है और उसकी धड़कन पहचानी जा सकती है।

इधर हिंदी में पिछले कई वर्षों से आधुनिकता बनाम भारतीयता को लेकर बहुत कुछ कहा गया है; प्रत्युत कहा-सुनी हुई है। बामाइना और बेमाइना, दोनों प्रकार की बातें सामने आई हैं। उनसे एक ओर प्रश्न की गंभीरता बढ़ी है तो दूसरी ओर कुछेक गंभीर खतरे भी खड़े हो गए हैं।

जो कतिपय प्रमुख प्रश्न बाकायदा अपने बेबाक उत्तर मांगते रहे हैं वे इस प्रकार हैं :

क्या भारतीय संस्कार आधुनिकता विरोधी हैं?
क्या भारतीय और यूरोपीय सत्य एक हैं?
क्या भारत का अर्ध-सामंतवादी व्यक्ति और यूरोप का स्वतंत्र व्यक्ति एक है?
क्या भारत में यूरोप जैसा व्यक्ति विच्छेदन घटित हो चुका है?
क्या आधुनिकता राष्ट्रीयता से लोहा लेने के बराबर है?
क्या भारत दोनों शिविरों की आधुनिकता अपना सकता है?
क्या भारतीय उखड़े हुए दांत की खोखल मात्र है?
क्या आधुनिकता की कोई भारतीय परंपरा है?
क्या आधुनिकता जातीय संस्कार है?
क्या आधुनिकता प्रतिबद्धता-अप्रतिबद्धता निरपेक्ष है?
क्या भारतीय और यूरोपीय संस्कृति का हिम-बिंदु एक-सा है?
क्या आधुनिकता ईश्वर, धर्म और अध्यात्म को नकारती है?
क्या भारतीय परंपराएं आधुनिकता के लिए अवरोधक हैं?
क्या आधुनिकता अतीत और इतिहास निरपेक्ष प्रत्यय है?

ये हैं वे कुछ प्रश्न जो समय-समय पर फन तानते रहे हैं। एक-एक को अलग-अलग उठाने की अपेक्षा इन्हें एक तर्कसगत परिचर्चा में समेटना ही अधिक वाजिब होगा। तब एक प्रश्न से जुड़े वैसे ही और प्रश्न भी साफ हो सकते हैं।

आज आधुनिकता को 'अव्याकृत' मानकर चुप्पी साधना उसके आगे एक तरह से घुटने टेकने के बराबर है। 'नीति-नेति' कहकर इसे टाला नहीं जा सकता और न इसे अनिर्वचनीय बताकर ही किसी दिव्यानंद की सहोदरता के समकक्ष रखा जा सकता है। यह 'ऐटीच्यूड' बदले बिना आधुनिकता को नहीं जाना जा सकता।

पीछे यह कहा गया है कि आधुनिकता की बात कहीं से भी छेड़ी जा सकती है। सुविधा के लिए यह बात भारतीय संदर्भ से ही आरंभ करते हैं। प्रारंभ में जिस प्रश्न से दो-चार होना पड़ रहा है—वह है कि क्या भारत की कोई अपनी आधुनिकता रही है? उसकी जीवंधर परंपरा कौन सी है। यह प्रश्न इसलिए भी और महत्वपूर्ण है कि कुछ जल्दबाजी में यह मान लिया गया है कि भारत की अपनी कोई भी न तो आधुनिकता ही रही है और न आधुनिकता की परंपरा ही। ऐसे में यह प्रश्न एक न्याय-संगत वज़ाहत मांगता है।

आधुनिकता एक अव्याहत प्रक्रिया है, जिसमें बराबर एक प्रश्नशीलता रहती है और रहता है एक ऐतिहासिक सातत्य भी, जो इसे उसकी तुरंत तात्कालिकता में आगत और अनागत से सार्थक संपृक्तता प्रदान करता है। इन मान्यताओं के बारे में अब दो रायें होने की गुंजाइश नहीं है। यह भी लगभग तय ही है कि आधुनिकता की विभिन्न-युगीन परिणतियां ही उन युगों की सापेक्षता में अर्थ पाती हैं और उन युगों के आधुनिक-बोध के रूप में स्वीकृति भी पाती हैं।

आधुनिकता के भारतीय संदर्भ के पहले प्रश्न का उत्तर इन्हीं मान्यताओं के आलोक में ढूंढना होगा। इस आलोक में उपर्युक्त फतवा—कि भारतीय आधुनिकता की कोई परंपरा नहीं रही है, स्वतः ही रद्द हो जाता है, और यह स्थापना भी खुद-ब-खुद बरखास्त हो जाती है कि यूरोप की आधुनिकता ही भारत की आधुनिकता है, इससे पूर्व भारत में आधुनिकबोध की कोई तमीज़ नहीं थी और आधुनिकता की कोई परंपरा भी नहीं थी।

यदि प्रश्न-चिह्न की निरंतरता को आधुनिकता की प्रक्रिया का गतिदायक अक्ष मान लिया जाए, तो यह मानना होगा कि भारतीय इतिहास में आधुनिकता की प्रक्रिया बराबर गतिशील रही है। जीवन के असहज, रूढ़, जड़, म्रियमाण, रीत चुके, व्यर्थ और व्यतीत हो चुके तत्त्वों को यहां की प्रबुद्ध मनीषा ने न केवल आक्रोशपूर्ण मुद्रा और विद्रोही स्वर में अस्वीकार ही किया है प्रत्युत विशुद्ध क्रांतिकारी रोष से उन्हें विस्थापित किया है और प्रासंगिक तत्त्वों को स्वीकार किया है। कालांतर में उनके अनद्यतन पड़ जाने पर निर्ममता और क्रूरता से उनका पूर्ण भंजन किया है।

यहां के संपूर्ण धार्मिक जातीय और सांस्कृतिक जगत में व्यक्ति-चिंतन की जितनी खुली छूट रही है, वह आज अत्यधिक आधुनिकता का दम भरने वाले देशों में शायद नाम-मात्र को भी नहीं रही है, उनका इतिहास इस बात की गवाही भरता है। यहां न तो किसी धर्म-ग्रंथ को एकमात्र अंतिम ग्रंथ घोषित कर स्वतंत्र चिंतन को अवरुद्ध किया गया है और न किसी व्यक्ति विशेष को अंतिम व्यक्ति घोषित कर सामान्य व्यक्ति के व्यक्तित्व के सहज विकास को रुद्ध ही किया गया है। यही कारण है कि यहां प्रत्येक युग में स्थापित मूल्यों के खिलाफ जहाद होता रहा है। उन्हें चुनौतने वाले को न तो यहां अपनी सलीब स्वयं कंधे पर लादकर अपनी कतलगाह तक जाना पड़ा है और न स्वयं को ब्रह्म कहने के जुर्म में किसी को मक़सल में फांसी के फंदे में झूलना पड़ा है। यहां उन्हें ईश्वरत्व मिला है। जिन्होंने ईश्वरत्व को नकारा उन्हें भी ईश्वर मान लिया गया है। व्यक्ति के चिंतन-स्वातंत्र्य की ऐसी मिसाल विश्व-इतिहास में सहज सुलभ नहीं। यही आज़ादी इस बात की तसदीक़ है कि भारत की अपनी आधुनिकता रही है और यहां आधुनिकता की प्रक्रिया बराबर गतिशील रही है तथा उसने प्रत्येक युग के जड़ जीवन-मूल्यों को अस्वीकार किया है।

वैदिक युग में ही व्रात्यमंडल की स्थापना हो गई थी जो घोर अनीश्वरवादी था। भारतीय आधुनिकता का यह सभवतः पहला आंदोलन था जिसने अस्वीकार की मुद्रा में प्रतिष्ठित के जड़-रूप के विरुद्ध सक्रिय विद्रोह किया। इस सप्रश्नता से आधुनिकता की

प्रक्रिया गतिमान हो उठती है। इसकी पहली परिणति थी नास्तिकता। यही नास्तिकता-बोध उस युग की सापेक्षता में आधुनिकबोध बना है प्रत्येक युग को अपनी-अपनी सापेक्षताएं रहती हैं। अतः एक युग की सापेक्षता में इसलिए पूर्ण स्वीकृति नहीं पाती, क्योंकि उस युग की अपनी परिवर्तित सापेक्षताएं रहती हैं। इस प्रकार आधुनिकबोध तो अपने युग की सापेक्षताएं चुक जाने पर पुराना पड़ जाएगा परंतु प्रश्न-चिह्न की निरतरता के कारण आधुनिकता की प्रक्रिया बराबर गतिमान रहेगी और प्रत्येक युग की सापेक्षता के अनुरूप परिणतियां जन्माती रहेगी।

इसी प्रकार भारतीय आधुनिकता की प्रक्रिया बराबर त्वरायुक्त रही है और विभिन्न युगों की सापेक्षता के अनुकूल परिणतियां भी जन्माती रही है। अतः हमारे यहां जहां आधुनिकता की प्रक्रिया की निरंतरता है वहां आधुनिकबोधों की भी एक लंबी परंपरा है।

प्रश्न-चिह्न की उपर्युक्त निरंतरता व्रात्यमंडल के साथ ही समाप्त नहीं हो जाती है, प्रत्युत आगामी युगों में भी वह अपनी अस्मिता साबित करती रही है। अस्वीकृति का उन्मेष, विद्रोह, क्रांति, प्रत्याख्यान, निषेध का प्रखर स्वर यहां बराबर उठता रहा है। चर्वाक और बृहस्पति की नास्तिकता, बुद्ध का निरीश्वरवाद, शंकर और कुमारिल का क्रूर अस्वीकार, गोरख, कबीर, नानक, कम्बन, वेमन्ना, तुलसी, राममोहन, दयानंद, रामकृष्ण परमहंस, विवेकानंद, अरविंद, रमण, गांधी के क्रांतिकारी स्वरों में, उग्र एवं प्रखर प्रहारों में, उनका मात्र आक्रोश, रोष, प्रतिशोध नहीं है, प्रत्युत वह चेतना है जो उनके युगों में आधुनिकबोध बनकर फैली थी, जिसकी रचनात्मक उपलब्धियां भी रही हैं। प्रश्न-चिह्नों की उपर्युक्त ऐतिहासिक निरंतरता में भारतीय आधुनिकता की प्रक्रिया गतिमान रही है और उसकी विभिन्न युगीन परिणतियां विविध आधुनिकबोधों के रूप में स्थापित होती रही हैं।

यूरोपीय आधुनिकता का समारंभ ईसाई पौरोहित्व के खिलाफ जहाद के रूप में हुआ था।[1] भारतीय आधुनिकता की धारा 'बुद्ध के कमंडलु' से अनुस्यूत हुई है।[2] अतः ऐसी कोई भी स्थापना कि भारतीय अध्यात्म और आधुनिकता-विरोधी है, भारत की अपनी किसी आधुनिकता की कोई परंपरा नहीं रही है, भारत की समकालीन आधुनिकता, आधुनिकबोध सर्वथा यूरोपीय संपर्क की देन हैं—ये सब न केवल भ्रामक हैं, प्रत्युत भ्रष्ट एवं एकांगी भी हैं।

वस्तुतः भारतीय आधुनिकता की प्रक्रिया एवं आधुनिकबोध का अपना एक विशिष्ट सामाजिक, राजनैतिक एवं राष्ट्रीय तथा सांस्कृतिक परिवेश रहा है। इसलिए उसका अपना विशिष्ट स्वभाव, मिज़ाज़ और प्रकृति है, जो यूरोप की

---

१. डा० शिवप्रसाद सिंह : टूटे रथ-चक्रों का सारथी : कीर्केगार्द । धर्मयुग, २१ जून, १९६६, पृ० १०

२. द्रष्टव्य : डा० रामधारीसिंह 'दिनकर' आधुनिकता और भारतधर्म । धर्मयुग, १३ मार्च, १९६६, पृ० १२, ३६

आधुनिकता, आधुनिकबोध से अलग अपनी इयत्ता रखते हैं। क्योंकि यूरोपीय आधुनिक चिंतन का भी अपना विशिष्ट परिवेश रहा है। परंतु यह मानने में भी कोई संकोच नहीं होना चाहिए कि भारतीय आधुनिक चिंतन ने यूरोपीय आधुनिकता संबंधी चिंतन के प्रभूत प्रभाव स्वीकार किए हैं। आज की भारतीय आधुनिकता इन दोनों की सामासिक इयत्ता लिए हैं। परंतु वह अपने मूल और पारंपरिक विकास में न तो अपने मूल से विच्छिन्न हुई है और न ही यूरोपीय प्रभावों के प्रति विरक्त और उनसे असंपृक्त रही है।

इस चर्चा को यहीं छोड़कर अपने मूल प्रश्न की ओर आना चाहूंगा। निश्चित ही आधुनिकता भारतीयता-विरोधी नहीं है। बल्कि यूरोपीय आधुनिकता ने वहां की जमीन से उखड़ कर भारतीय भूमि में अपनी जड़ें जमाने की कोशिश की है। उसने यहां की जमीन तोड़ी है। वह जनजीवन से जन्मे स्वस्थ जीवन दर्शन की अपेक्षा अनेक विकृतियों के रूप में आयातित हुआ है। विचार के वंश-वृक्ष के रूप में वह यहां कम फैला है और भारत की समकालीन मानसिकता से उसका तालमेल प्रक्रियात्मक प्रकार का न होकर प्रायः आरोपित प्रकार का ही रहा है।[1]

भारत की अपनी आधुनिकता रही है। उसकी जीवंत परंपरा चली आ रही है। उसकी समकालीन आधुनिकता और आधुनिकबोध का अपना अलग स्वभाव और मिज़ाज़ है। परंतु आधुनिकता संबंधी बहसों में ऐसी दलीलें बराबर पेश की जाती रही हैं कि भारतीयता आधुनिकता-विरोधी है और विरोध के इस मोर्चे पर आधुनिकता को न केवल भारतीय परंपराओं से ही प्रत्युत संपूर्ण राष्ट्रीय भावना से टक्कर लेनी पड़ रही है। ऐसे बयानों में न तो सांस्कृतिक सूझ-बूझ है और न ही प्रक्रियात्मक। भारतीयता को उखड़े हुए दांत की खोखल[2] करार देना ऐसे ही अज्ञान और बीमार समझ का परिचायक है। भारतीयता यदि उखड़े हुए दांत की खोखल है तो वह उखड़ा हुआ दांत कौन है? वह दांत कहां गया? वह दांत कब से दुखता आ रहा था? ऐसे प्रश्नों से ऐसे बीमार चिंतक प्रायः कन्नी काटते रहे हैं और हम उनको पहली सुनवाई में ही बर्खास्त करना चाहेंगे।

समकालीन महाज पर आधुनिकता को भारतीयता के किन-किन रूपों (?) से टक्कर लेनी पड़ रही है? यह जानने के लिए यह जानना भी अतीव जरूरी है कि भारतीयता से क्या अभिप्राय है? भारतीयता के नाम पर क्या कहीं पर निश्चयात्मक उंगली धरी जा सकती है? इधर भारतीयता को व्याख्यायित करने के लिए काफी कसरत होती रही है। भारतीयता के नाम पर केवल यहां की देशव्यापी अमानुषिकता, ह्रासोन्मुखता, बर्बरता की ही बात करना संगत नहीं होगा। भारतीयता को एक निरंतर भोगी जा रही स्थिति मानना, अथवा उपर्युक्त बोझ तले बराबर दबे जाने का एहसास

---

१. द्रष्टव्य : श्री रमेशचंद्र शाह : आधुनिक भावबोध और भारतीयता : परिशोध : २०, पृ० ३७-४६

२. श्री ओमप्रकाश दीपक : अंकुठित भाव से अपनी सदी का गवाह कौन नहीं बनाना चाहेगा? धर्मयुग, १८ अक्तूबर, १९३४, पृ० १७

मात्र मानना भी संगय नहीं।[1] ऐसी ही धारणाएं और अधिक व्यापक बनकर सामने आई हैं। इस दृष्टि से भारतीयता न तो पारिभाषिक स्थिति है और न आध्यात्मिक कल्पना ही। वस्तुत: भारतीयता भारतीय जनगण और समाज का तथा एक वस्तु-स्थिति का नाम है। वह उस वृहत्तर यथार्थ का पर्याय है जो अतीव भ्रष्ट होने पर भी भोगा और ढोया जा रहा है।[2] अतीत के अंधे प्रेतों से आतंकित शव-साधनों में ग़र्क अर्धसामंत-वादी जनमानस को भी भारतीयता का रूप माना गया है, जिस पर शताब्दियों पुरानी अमानुषिक जातीयता और अंधविश्वासों की राख परत-दर-परत चढ़ी हुई है।[3] आज की भारतीयता में मनु की म्रियमाण जातीयता सर्वथा त्याज्य है और बुद्ध के कमंडलु से अनुस्यूत और अव्याहत गति से प्रवहमान, मानवीय उन्मेष, अस्वीकार की विद्रोही चेतना ग्राह्य है, क्योंकि यही आधुनिकता की केंद्रीय और जीवंधर प्राण-चेतना है, और प्रत्येक सांप्रतिकता के महाज़ पर हथियारबंद होकर इसे मनु की संपूर्ण व्यवस्था से जूझना पड़ा है। आज भी भारतीय परिवेश में मनु और बुद्ध का ही संघर्ष है। दूसरे शब्दों में आधु-निकता को भारतीयता के पुंसत्वहीन अशिव अंशों से संघर्ष करना पड़ रहा है।[4]

उपर्युक्त धारणाओं में भारतीयता का आशय रहा है भारत की समग्र धरोहर का, गलित, रूढ़, अशिव, जड़, रूप, का जिसकी प्रासंगिकता अपनी समकालीनता में स्वयं को अर्थ दे चुकी है, और अब अमरबेल की तरह जनजीवन के अश्वत्थ की शाखाओं-प्रशाखाओं को आच्छादित कर उनके जीवन रस का शोषण कर रही है।...परंतु इस सब को ही भारतीयता मान लेना उचित नहीं यह सब गर्हित है और सर्वथा अपनी सर्वांशत: में न केवल परित्याज्य ही है प्रत्युय निंद्य भी है।

भारतीयता के ऐसे ही रूप के अतिक्रमण का दबदबा बढ़ा है। परंतु वह गलत दिशा में भटक गया है। उसने भारतीयता के गलित अंश को ही 'भारतीय' कह कर अपने संघर्ष का महाज़ चौड़ा कर लिया है और लड़ाई को दुश्मन की गलियों में लड़ने की बजाए दोस्तों के ही घरों-मुहल्लों में लड़ना आरंभ कर दिया है। इससे युद्ध का पासा भले न पल्टा हो, मगर युद्ध का रुख अवश्य ही बदल गया है। परिणाम यह निकला है कि आधुनिकता को संपूर्ण भारतीयता का विरोधी मान लिया गया है। आधुनिक बनने के लिए भारतीयता के अतिक्रमण की नितांत आवश्यकता अनुभव की गई है।[5] जो कि सरासर-सरीहन गलत है।

---

१. श्री ओमप्रकाश दीपक : अकुंठित भाव से अपनी सदी का गवाह कौन नहीं बनाना चाहेगा ? धर्मयुग, १८ अक्तूबर, १९३४, पृ० १७
२. श्री नागेश्वर लाल : आधुनिकता बनाम भारतीयता : विदेशी मिज़ाज़ का तमाशा। धर्मयुग, १ नवंबर, १९६४, पृ० १०
३. श्री निर्मल वर्मा : सहज भारतीय एवं भारतीयता का अतिक्रमण : खोज की दिशा। धर्मयुग, ६ सितंबर, १९६४, पृ० १७
४. श्री रामधारीसिंह 'दिनकर' : आधुनिकता और भारतीय धर्म। धर्मयुग, १६ मार्च, १९६६, पृ० १२
५. श्री निर्मल वर्मा : बीसवीं शती की केंद्रीय मानवीय स्थिति। धर्मयुग, ६ सितंबर, १९६४, पृ० १७

आधुनिकता की यही जंग 'राष्ट्रीयता' एक पागल उन्माद मानती है—क्योंकि इसी की प्रेरणा से मनुष्य ने मनुष्यता के साथ घोर अमानुषिक और बर्बर व्यवहार किया है (?) आधुनिकता के शीर्षस्थ व्याख्याताओं में अपने-अपने देशों की राष्ट्रीयता लोहा लिया है (?) बर्ट्रेंड रसल, सार्त्र, सिमोन, संगान ने राष्ट्रीयता की संकलपना की धज्जियां उड़ाई हैं। कामू का यह बयान इस प्रसंग में विशेष उल्लेखनीय है—"मैं उन थोड़े से मंद भागी फ्रांसीसियों में से हूं जिन्हें अपने देश पर गर्व नहीं हैं।" भ्रष्ट और झूठी राष्ट्रीयता का ऐसा विरोध इस प्रकार से आधुनिकता की अग्नि-परीक्षा है।[१] इधर कामू की नकल में हिंदी के कुछ अत्यधिक आधुनिकतावादियों ने राष्ट्रीयता के खिलाफ अपने पैगंबराना फतवे भी दिए हैं। गंगा और हिमालय की बात, गौ और भारतीयकरण की बात, जातीय संस्कार और संस्कृति की बात, मां और मातृभूमि की बात—यह सब 'मिथ्या-राष्ट्रीयता' है। सच्ची राष्ट्रीयता है वियतनामी गुरिल्लाओं, अपर्णासेन, चे और नक्सलपंथियों का विद्रोह, क्रांति, अस्वीकार तथा नृशंस अराजकता।[२] जबरी नसबंदी की भांति सारे देश का जबरी आधुनिकीकरण करने पर तुले, आधुनिकता के ऐसे पंचों ने, राष्ट्रीयता और संस्कृति के साथ खुले आम मनमाना दुर्व्यवहार किया है। 'रैड बुक्स' के तरजुमे किए कराए हैं। घोषणाएं की हैं—**हिमालय पर खड़ा है माओ और एशिया को बुला रहा है।** चीन-भारत युद्ध में शहीद हुए भारतीय सेनानियों को 'पागल हिंदुस्तानी कुत्ते' करार दिया। और अब आपातकाल में वे विद्रोह-क्रांति की धूल झाड़कर तुरंत उन लोगों में शामिल हो गए हैं, जिन्हें आज तक वे बुर्जुआ, रिएक्शनरी कहते-कहते नहीं थकते थे। सो केवल वे लोग ही आधुनिकता के अलंबरदार हैं—ऐसा मानना और सोचना नितांत भ्रामक होगा।[३] क्योंकि आधुनिकता न केवल अपनी ऐतिहासिक प्रक्रिया में ही प्रत्युत अपनी समग्र चारित्रिकता में जातीय संस्कारों से संगर्भित रहती है। वह समय स्थान की सापेक्षता में ही गतिमान होती है तथा विविध परिणतियों को जन्माती है।[४] भारत को आधुनिक होने के लिए किसी भी शिविर में शामिल नहीं होना होगा। यहां की आधुनिकता यहां की ही विद्रोही मिट्टी से उगेगी। हिमालय की चोटियों से पिघलकर गंगा में बहेगी। यहां के खेतों, खलिहानों में उगेगी...यहां की हवाओं में उड़ेगी। यहां का जन-मानस उसी में खुली सांस लेगा। यहां के निर्वात और शून्य को बाहर के नकली, आडंबर से भरने की बजाए, सार्वभौम राष्ट्रीय परंपराओं के जीवंधर और शिव अंशों से भरना होगा और स्वस्थ राष्ट्रीय परिवेश में आधुनिकता को प्रतिष्ठित करना होगा। इस बिंदु

---

१. श्री नंदकिशोर मित्तल : भारतीयता और अभारतीयता की उलझन। धर्मयुग, २१ फरवरी, १९१५, पृ० १०

२. डा० रमेश कुंतल मेघ : जीवन गाथा में रोमांटिकवाद की अनिवार्य विवशता। तटस्थ, अगस्त, १९७०, पृ० १४-१५

३. श्री नंदकिशोर मित्तल : क्या आधुनिक भावबोध फैसला देने वाला जज है ? धर्मयुग, २१ फरवरी, १९१५, पृ० ४०

४. श्री कमलेश्वर : कुछ विचार बिंदु : समकालीन कहानी, दिशा और दृष्टि : संपादक, डा० धनंजय वर्मा, पृ० ८२

पर आकर आधुनिकता और भारतीयता का विरोध अपने आप मर जाता है।[1] यदि यह विरोध रहता है तो उससे भारतीयता को तो नहीं हां आधुनिकता को खतरा अवश्य ही खड़ा हो जाएगा। विदेशी चिंतन को आयातित कर उसे ठूंसने का श्रम, तथा भारतीयता के विरुद्ध व्यूह रचना का श्रम—ऐसे ही और व्यर्थ के श्रम—ये सब आधुनिकता की प्रक्रिया को रुद्ध कर सकते हैं। तब आधुनिकता महज़ एक आडंबर, फ़ैशन बनकर रह जाएगी और यहां के आधुनिकतावादी मनीषी (?) आधुनिक भावबोध की विदेशी कृतियों पर भारतीय रैपर चढ़ाने की ग़ैरजिम्मावाराना कोशिश करेंगे और विदेशी चित्रों पर देशी फ्रेम चढ़ाने की नाजायज़ हरकत करेंगे।[2] यह सब अंधेरे में लाठी चलाने के बराबर होगा अथवा आसमान में तलवार चलाने के बराबर। ऐसे श्रम में केवल बाज़ू ही थकेंगे। हाथ कुछ नहीं लगेगा, सिवाए हाथों के अपने ही हाथ लगने के, हाथों से अपने ही हाथ ठकराने के।

आधुनिकतावादियों (?) ने फ़िजूल में ही आधुनिकता की लड़ाई गलत महाज़ पर छेड़ी है और राष्ट्रीयता, भारतीयता की सरहद्दी चौकियों पर, सिविलियन बस्तियों पर गोलाबारी की है। यह लड़ाई सही दिशा में होती तो इसका रूप ही और होता और आधुनिकता का अब तक समकालीनता की राजधानी पर कब्ज़ा हो गया होता। मगर इस गुरिल्ला लड़ाई में, असली शत्रु तो अपने-अपने बैरक्स में जा छिपा है और निहत्थी राष्ट्रीयता और भारतीयता क़तल हो रही है।

भारतीय संदर्भ में आधुनिकता की असल लड़ाई न तो भारतीयता से है और न राष्ट्रीयता से, न परंपरा से है और न प्रयोग से ही। उसका युद्ध-नियुद्ध है भारतीयता के जड़, रूढ़, मृत-अंश से। मगर आधुनिकता यूं अचानक ही समग्र भारतीयता-राष्ट्रीयता के विरुद्ध क्यों भड़क उठी है? यह स्थिति भी विचारणीय है। वस्तुतः आज की क्रुद्ध, आक्रुष्ट भूखी, मूल्यहीन पीढ़ी ने उस शिद्दत की ठंड को झेला है, जो अचानक आग बुझ जाने पर शिरा-शिरा, पोर-पोर को शीत-हिम बना देती है। यह आग क्यों बुझी? स्वतंत्रता के बाद नव-रचना की तमाम सियासी, ग़ैर-सियासी आशाएं, विश्वास, आश्वासन एकदम खोखले नारे साबित हुए और स्वतंत्र भारतीय का औसतन उत्साह ठंडा पड़ गया। उसने स्वयं को ऐसे घोर नंगे यथार्थ पर खड़े पाया जो आज़ादी-पूर्व यथार्थ से भी कहीं बदतर और भयंकर था। यहीं पर वह आग अचानक बुझने लगती है, जिसके सहारे भारतीय जनता ने स्वतंत्र्योत्तर संत्रास की 'पूस की रात' काटने के लिए मनोबल जुटाया था। परंतु वह पाता है कि उसकी सामान्य आकांक्षाओं की खेती राजनीतिक गायें

---

१. (क) डा० धर्मवीर भारती : आधुनिकता के तत्त्व बनाम भारतीयता के तत्त्व। धर्मयुग, १६ अगस्त, १९६४, पृ० १३-१४
(ख) आचार्य नंददुलारे वाजपेयी : आधुनिकता बनाम पश्चिमी अनुकृति। धर्मयुग, ८ नवंबर, १९६४, पृ० १३

२. श्री नंदकिशोर मित्तल : क्या आधुनिक भावबोध फैसला देने वाला जज है? धर्मयुग, २१ फरवरी, १९६५, पृ० ४०

चर गई हैं। उधर वह अलाव भी ठंडा हो गया है। कोयले राख हुए जा रहे हैं। हम राख के पीछे अब भी भाग रहे हैं, कभी दक्षिणपंथ में तो कभी वामपंथ में। ऐसे हम कब तक भागते रहेंगे? हमें एक-न-एक दिन अपने ही उजड़े खेत में पलटना होगा। वहीं नए सपनों की खेती करनी होगी और राजनीतिक नील-गाय के झुड से भी बराबर खबरदार रहना होगा।[1]

यह क्रुद्ध पीढ़ी अंधी भागदौड़ में, जगह-जगह अपने से ही टकरा रही है। अपने ही लोगों के पैर कुचल रही है। अपनों पर ही बेतहाशा टूट रही है। ऐसे में उसका शिकार हो रही हैं भारतीय परंपराएं। कुत्ते को बाद में गोली से दाग़ने के लिए अभी से बहाना गढ़ा जा रहा है और उस पर हल्काने का आरोप लगाया जा रहा है। भारतीय परंपराओं की यही दुर्गति इन क्रुद्ध आधुनिकतावादियों के हाथों हो रही है।[2] जबकि परंपरा कोई मृत, निष्प्राण स्थिति नहीं प्रत्युत सतत विकासशील प्रक्रिया है, जो अपने फोटक को बराबर छिटकती जाती है। परंपरा में शताब्दियों का सिद्ध और प्रामाणिक अनुभव रहता है। परंपरा की प्रक्रिया में प्रश्न-चिह्न की निरंतरता बराबर विद्यमान रहती है। अतः परंपरा भारतीयता और आधुनिकता अनिवार्यतः विरोधी नहीं।[3] वस्तुतः, परंपरा सदैव जीवंत तत्त्वों से संगर्भित रहती है। परंपरा को आधुनिकता-विरोधी मानने वाले स्वयं एक दिन परंपरा को विर्सजित हो जाएंगे। संभवतः, इसीलिए परंपरा का जादू इलियट के सर चढ़ कर बोला है कि वे स्वयं परंपरा के सजीव तत्त्वों पर खड़े हैं। उनके लिए परंपरा से कटना पितामह होना है और जीवंतता की दरों से उठकर व्यतीत हो रहे तखत पर जा बैठना है, जहां से केवल चंद आशीर्वाद ही दिए जा सकते हैं। उनकी यह धारणा कि प्रयोग परंपरा की अस्वीकृति नहीं, प्रत्युत उसकी प्रामाणिकता का निकष है, न केवल परंपरा के प्राणवान रूप को रेखांकित करती है, प्रत्युत आधुनिकता के संदर्भ में उसकी रचनात्मक भूमिका को भी अविवाद्य बनाती है, क्यों जो सांप्रतिकता हो किंवा आधुनिकता, दोनों ही परंपरा से विच्छेद में संदर्भच्युत क्षेपक बन जाएंगे। परंपरा उन्हें अग्राग्रसरण भी देती है तथा एक सुनिश्चित चारित्रिकता भी प्रदान करती है। उसे अतीत की केंचुल व्यतीत का निर्भीक मानना एक भारी भूल होगा।[4] वह अपने संपूर्ण चरित्र में जीवंत होती है और उसका आधुनिकता तथा समकालीनता से जीवंत रिश्ता रहता है, जिसके टूटने पर आधुनिकता अक्षच्युति पाती है और समकालीनता धुरीहीन रथ-चक्र की भांति असंतुलन में परिक्रमित होकर ढेर होने लगती है। अतः ऐतिहासिक परंपरा

१. द्रष्टव्य : श्री निर्मल वर्मा : शब्द और स्मृति, पृ० १-११
२. डा० श्याम परमार : अतर्क्य विसंगतियों का संतुलित विक्षोभ : अकविता और कला संदर्भ, पृ० २०
३. द्रष्टव्य : श्री मोहन राकेश : आधुनिकता के तत्त्व बनाम भारतीयता के तत्त्व। धर्मयुग, १६ अगस्त, १९६४, पृ० १४-१६
४. द्रष्टव्य : श्री मोहन राकेश : परंपरा अर्थ गर्भ मौन : अकविता : अकविता और कला संदर्भ, पृ० ४३, ४४

के बिना आधुनिकता की पहचान संभव नहीं। परंतु यह आपसी संबंधी कोई समझौता नहीं, प्रत्युत एक ज़बरदस्त आग्रह है। आग्रह—आधुनिकता का मतवातर परंपरा के प्रति सप्रश्न बने रहने का। यदि ऐसा न हुआ तो परंपरा से व्यतीत के मृत, रूढ़ अंश छिटक नहीं पाएंगे। यह कहना और भी संगत होगा कि जहां परंपरा आधुनिकता को अर्थ देती है वहां आधुनिकता भी उसे जीवंत बने रहने की प्रक्रिया में डाले रखती है।[1] परंपरा के प्रति सप्रश्नता आधुनिकता का न केवल प्रारंभिक और अनिवार्य आग्रह ही है बल्कि स्वयं में ही आधुनिकता है, एक समकालीनता की सापेक्षता में आधुनिकबोध है।[2]

भारतीय और यूरोपीय आधुनिकता, आधुनिकबोध, दोनों की अपनी-अपनी ऐतिहासिक सापेक्षताएं रही हैं, जिनमें उनका रथ-चक्र गतिमान रहा है और परिणतियां उद्‌भूत हुई हैं। उनमें न तो ऐतिहासिक साम्य है और न ही सांस्कृतिक। क्योंकि भारत और यूरोप की मध्ययुगीन आधुनिकता में एक कटात्र और संपर्कहीनता है, जबकि समकालीन आधुनिकता में वैज्ञानिक एवं प्रावधिक उपलब्धियों से समय स्थान सिकुड़ गया है और संपर्क-सेतु ने सारे विश्व को भौगोलिक सीमाओं से निकालकर एक-दूसरे के बहुत ही निकट ला दिया है। अतः, समकालीन आधुनिकता में ऐतिहासिक और सांस्कृतिक साम्य की संभावनाएं हैं, जबकि मध्ययुगीन आधुनिकता में केवल प्रक्रियात्मक साम्य ही रहा है, जो कि स्वाभाविक ही है।

भारत की मध्ययुगीन आधुनिकता—ईशा की दसवीं शती से सत्रहवीं शती तक की आधुनिकता एक व्यापक परिवेश में सामाजिक एवं मानवीय मूल्यों की रक्षा, पुनर्प्रतिष्ठा का अभियान, आठ-नौ शताब्दियों में फैला चक्राकार संक्रमण, जिसमें युद्ध-पूर्व आतंक युद्धकालीन विध्वंस-विनाश, युद्धोत्तर संत्रास की तीन समानांतर धाराएं प्रवहमान रही हैं, जिसने यहां देश में संपूर्त निर्वात की स्थिति जगाई है, मूल्य विघटन मूल्य-भ्रंशता का विष-संक्रमण फैलाया है, ऐसे चक्राकार संक्रमण में मध्ययुगीन आधुनिकता की प्रक्रिया गतिमान रही है, जिसकी मूलचेतना आध्यात्मिक और मानवीय रही हैं। वस्तुतः, वह धार्मिक ओर सामाजिक पुरोहित्व के विरुद्ध एक योजनाबद्ध

---

१. (क) डा० रामदरश मिश्र : आज का मुख्य प्रश्न यह है कि यंत्र-संस्कृति में मानव कैसे जिए ? धर्मयुग, २६ जुलाई, १९६४, पृ० १०, ३४
(ख) ममता अग्रवाल : एक और अंत। धर्मयुग, २४ जनवरी, १९६४
(ग) डा० देवी शंकर अवस्थी : एक समीक्षक के नोट्स : सन् साठ के बाद की हिंदी कहानी : समकालीन हिंदी कहानी : दिशा और दृष्टि : (सं० धनंजय वर्मा), सं० ९८
(घ) आधुनिक संवेदना : डा० कैलाश वाजपेयी : परिशोध : अंक २०, पृ० २२

२. However in literature...it is this which today still challenges the reaction against the modern movement...the best work of the modern expressed this tension between past and present, which could only be expressed in a revolutionary kind of art".

Stephen Spender : The Modern As Vision of the Whole : The Struggle of the Modern, p. 79.

आंदोलन था। उसने आरोपित, रीन चुके, खोटे जीवन मूल्यों के संपूर्ण निषेध और अस्वीकार का विद्रोही उद्‌घोष किया। इस सारी प्रक्रिया में मनुष्य और मनुष्यत्व केंद्र में रहा है। इसी केंद्र-बिंदु से उस युग की आध्यात्मिक, सामाजिक, धार्मिक और सांस्कृतिक चेतना का उदय होता है। उसने अपनी समकालीनता से पूरा द्वंद्व-युद्ध किया है और उसे बुरी तरह लताड़ा और पछाड़ा है। मध्ययुगीन आधुनिकता अपने युग की सांप्रतिकता पर पूर्ण विजयिनी रही है। उसे अधूरे विकलांग समन्वयों की परंपरा, पक्षाघातपूर्ण ऐतिहासिक समझौते कहना आधुनिकता की प्रक्रियात्मक सूझ से पूर्ण अपरिचय माना जाएगा।[1] मध्ययुगीन आधुनिकबोध की तीखी, जलती, सालती, मानवीय संवेदना[2] उस युग की आधुनिकता का एक ऐसा शिनाख़्ती तेवर है, जो समकालीन आधुनिकबोध में भी एक खानदानी चिह्न बनकर उभर आया है। उसमें निजत्व अन्वेषण उनका ऐतिहासिक सातत्य न केवल प्रकारांतर से प्रत्युत मूलतः आधुनिक भावबोध ही है।

इधर आधुनिकता का एक और तेवर पकड़ में आया है। वह उपेक्षित की पैरवी है।[3] कोई बात न्यायोचित हो सकती है। मगर प्रत्येक न्यायाधीस का फैसला अनिवार्यतः न्याय ही होगा—यह संभव नहीं। आधुनिकता की हर देश की ऐतिहासिक प्रक्रिया ने यह साबित किया है कि वह न्यायाधीश का न्याय नहीं। वह उस दोषी (?) उपेक्षित के साथ है जिसे ऐसे न्याय (?) का शिकार होना पड़ा है। क्या हमारी मध्ययुगीन आधुनिकता अपने पूर्ण मिज़ाज और व्यक्तित्व में दलित, प्रताड़ित और शोषित की उपर्युक्त प्रकार के सामाजिक फैसलों के विरुद्ध एक लगातार वकालत नहीं? जिसे हमारे कुछ आधुनिकतावादी चिंतकों (?) ने विकलांग समन्वयों का लंबा सिलसिला माना है वह दरअसल उस फैसले के खिलाफ एक लंबी बहस है, एक जिरह है और एक साधिकार दलीलबाजी है, क्यों जो मध्ययुगीन आधुनिकतावादियों के हाथ में उस युग के उपेक्षितों का पुश्तैनी मुखत्यारनामा—पावर आफ एटार्नी था।

यूरोप में भी आधुनिकता की एक बुनियादी शर्त मान ली गई है—ध्वंस, पतन, विघटन के ह्रास पर जीवन को अर्थ देने का प्रयत्न, ऊपर से लादे गए, आरोपित जीवन मूल्यों के प्रति विद्रोह।[4] क्या भारत की मध्ययुगीन आधुनिकता ने मूल्य-संकरता के ऐसे ही जल रहे लाक्षाग्रह में भयंकर विषय-संक्रमण के ज्वालामुखी शिखर पर भस्म हो रहे भारतीय जन-जन को जीने की तमीज़ नहीं सिखाई? जीवन को अर्थ देने की जांच नहीं सिखाई? आरोपित जीवन-मूल्यों को नकारने का उद्दाम साहस नहीं दिया? हमारे चिंतन की दुर्नियति यह रही है कि हमने अपने दाय को न अपनी आंख से देखा

---

१. श्री रमेशचद शाह : आधुनिक भावबोध और भारतीयता : परिशोध : अंक २०, पृष्ठ ३७-४१
२. डा० धर्मेंद्र गोयल : आधुनिक संवेदना, वही, पृ० २४, २५
३. श्री नंदकिशोर मित्तल : भारतीयता और अभारतीयता की उलझन। धर्मयुग, २१ फरवरी, १९६५, पृ० १०
४. डा० शिवप्रसाद सिंह : टूटे रथ-चक्रों का सारथी : कीर्केगार्द। धर्मयुग, २१ जून, १९६६, पृ० १०

है और न आंका ही है। हम जो देख रहे हैं उसकी तसदीक़ हमने दूसरे और दूर से देखने वालों से मांगी है। यह पास खड़े व्यक्ति का अपनी आंखों और दृष्टि पर अहमक़ाना अविश्वास है।

आधुनिकता का एक और दिलचस्प पहलू सामने आया है। आधुनिकता की प्रक्रिया से जिस आधुनिकबोध की परिणति यूरोप की भयंकर युद्धोत्तरता में हुई है, वह भारत में शताब्दियों पूर्व यहां की आधुनिकता की प्रक्रिया से हो चुकी थी। या उनके ऐतिहासिक संदर्भ पर्याप्त भिन्न थे। यूरोपीय युद्धोत्तरता में आधुनिकबोध का एक तीखा स्वर यह भी उभरा है कि ईश्वर मर गया है, ईश्वर था ही नहीं, ईश्वर यदि हो भी तो हमारी उससे कोई गर्ज़ नहीं, कोई वास्ता नहीं, 'रिश्ता और सरोकार नहीं,' ईसाइयत मानवता के खिलाफ किया गया सबसे बड़ा षड्यंत्र है। समकालीन वैज्ञानिक उपलब्धियों के संदर्भ में ये स्वर और भी अधिक विश्वास से उठे हैं। पहले ये एक दुहाई के रूप में उठे थे, अब एक घोषणा के रूप में। मगर क्या ऐसी घोषणाएं भारत के लिए नहीं हैं? इस धर्म-परायण देश में ईश्वर का निषेध हुआ है, नास्तिकता का दर्शन फैला है, उसके बारे में बराबर खामोशी का रवैया रहा है, उसे 'अव्याकृत' घोषित किया गया है। लगता है आधुनिकता की प्रक्रिया ने यूरोप की भूमि पर स्वयं को एक बार फिर दुहराया है।

युद्धों की बर्बर, अमानुषिक, वीभत्स उत्तरकालीन मूल्य-संकरता अनिवार्यतः किसी अनीश्वरवादी नास्तिक जीवनदर्शन को जन्मायेगी—ऐसी बात नहीं, मगर एक बार ईश्वरीय अस्तित्व संदिग्ध अवश्य हो उठेगा, ऐसा अवश्य है। हिन्दी-साहित्य की मध्ययुगीन युद्धोतरता के प्रथम चरण में ईश्वर के सगुण रूप का निषेध और बराबर निर्गुण का प्रचार प्रकारांतर से ईश्वर के सगुण रूप का संपूर्ण अस्वीकार है। यूरोप में ईश्वर के अभाव में मानव की सार्थकता सिद्ध करने का जो प्रयास आज आधुनिकबोध के नाम पर किया जा रहा है[1], उसकी शुरुआत भारतीय आधुनिकता की प्रक्रिया में बहुत पहले हो चुकी थी। औद्योगिक, प्रावधिक क्रांति के बाद जो असंतोष चर्च और मक्के के प्रति तथा जो आक्रोश और संदेह ईश्वर के प्रति यूरोपीय चिंतन में उभरा है, वह यहां भी किसी-न-किसी रूप में सगुण और मंदिर तथा ब्राह्मणी पुरोहित्व के विरुद्ध भी उभरा है।

यहां ऐसा प्रश्न कि क्या हम यूरोपीय चिंतन से पीछे हैं?—बड़ा ही स्वाभाविक है। हमारी विडंबना यह रही है कि जब हम भारत में यूरोप जैसा कुछ होता नहीं पाते हैं, तब उसके लिए उत्तरदायी कारणों की ऐतिहासिक पड़ताल किए बिना ही अपने पिछड़ेपन की बात कहने लगते हैं और जो यूरोप में वहां के ऐतिहासिक कारणों से संभव हुआ है उसे पकड़ने, ओढ़ने के लिए बेतहाशा भागने लगते हैं। किन्हीं ऐतिहासिक कारणों से, जो हमारे देश में नहीं हो रहा है वह हमारा पिछड़ापन कैसे? तब हम

---

१. डा० कैलाश वाजपेयी : आधुनिक संवेदना : परिशोध : अंक २०, पृ० १७-२१

यूरोप के इतिहास को आगे से घेरकर क्या भारत में ला पाएंगे ? क्या इतिहास को ऐसे हांकना हास्यास्पद नहीं ?

यूरोपीय चिंतन की बहुत-सी बीमार मछलियां यहां के पानी में आकर और भी अधिक बीमार हुई हैं, और उन्होंने यहां के पानी को भी गंदा किया है। मज़ा यह है कि हमारे बीमार बुद्धिजीवियों ने उन्हें अपने चिंतन की उपलब्धियां मान लिया है। एक बीमार दर्शन यहां की एक पूरी पीढ़ी में संक्रामक फैला रहा है—इस अहसास का कि हम यूरोपीय आधुनिकता से पीछे छूट गए हैं। यूरोप में समकालीन चिंतन के अनेक आंदोलन बिन आई अकाल मृत्यु पा रहे हैं, और हमारे यहां उनकी प्रारंभिक चर्चा भी नहीं हो रही।[1] यह दुःख उन्हें खाए जा रहा है।

यूरोप में आधुनिकता का एक व्यापक विविध और विरोधी ऐतिहासिक परिवेश है। वह अनेक ज़मीनों से अनेक रूपों में उठा है। उनमें से किसी एक पर उंगली रखकर उसे समग्र आधुनिकता का बोधक नहीं कहा जा सकता। यूरोप के विविध देश और काल खंडों में आधुनिकता की प्रक्रिया ने विविध परिणतियों को जन्माया है। उन्होंने अपनी समकालीन सापेक्षताओं में अर्थ पाकर एक विशिष्ट समकालीनबोध एवं आधुनिकबोध को उभारा है। उन सभी की समस्तता से संपूर्ण यूरोप का एक आधुनिकबोध बन पाया है, जिसकी अनेक मुद्राएं तेवर और पहिचान के निशान हैं।

यूरोप के विभिन्न खंडों से आधुनिक का एक स्वर बार-बार उठता रहा है। वह है ईसाई पुरोहिताई के विरुद्ध। वहां के मक्के में यह कुफर फैलाने की-सी बात थी। ईश्वर-निरपेक्ष होकर व्यक्ति जीवन को अर्थ देने की बात सीधी ही ईश्वर को नकारने की बात थी। दो विश्वयुद्धों में इस प्रश्न को और भी अधिक व्यापक आयाम मिल गए। पहले विश्व युद्ध से पूर्व के शीत आतंक में यूरोप की आधुनिकता की प्रक्रिया नई परिणतियों की संभावनाओं से संगर्भित होने लग गई थी। प्रथम महायुद्ध के लोमहर्षक विनाश-विध्वंस ने यूरोप के सामाजिक जीवन की नींव की निचली-से-निचली ईंट भी हिला दी। परंतु एक और भयंकरतम अंतराल है दोनों विश्वयुद्धों के बीच का समय। इसमें एक ओर प्रथम महायुद्ध की भयंकर युद्धोत्तरता है तो दूसरी ओर दूसरे विश्वयुद्ध का युद्धपूर्व आतंक संत्रास और आतंक की ये समानांतर धाराएं उस समय प्रवहमान हुईं जबकि वैज्ञानिक उपलब्धियों से संपूर्ण विश्व अपनी भौगोलिक सीमाओं से ऊपर उठने की प्रक्रिया में पड़ चुका था। परिणामतः ये दोनों समानांतर धाराएं मात्र यूरोप को ही नहीं प्रत्युत संपूर्ण विश्व को किसी-न-किसी रूप में उखाड़ती हैं। दूसरे महायुद्ध के विध्वंस और युद्धोत्तरता के विष-दंश से पूरा-का-पूरा यूरोप पछाड़ खाकर गिर पड़ता है।

स्पैंगलर ने इस स्थिति को यूरोप के सांस्कृतिक जीवन का शीत हिम-बिंदु करार दिया है। यातना-शिविरों में बंटा यूरोप, बमों की विस्फोटक ध्वनियों से बहरा यूरोप, अणु-विस्फोट से राख की ढेरी बना यूरोप, साईरनों की खतरे भरी चीख से आतंकित यूरोप, एक बीमार, नपुंसक, कुंठित नस्ल को जन्मा रहा यूरोप, जो अपनी सांस्कृतिक

---

१. डा० शुभनाथसिंह : पचास वर्ष पुरानी आधुनिकता। धर्मयुग, ११ जुलाई, १९६५, पृ० १०

विरासत से विच्छेदित हो चुका है और केंद्र-विच्युति की यातना से कराह रहा है। विघटन, संक्रमण, अवमूल्यन के नंगे यथार्थ पर जो व्यर्थ और निरर्थक हो रहा है और जो एक पूर्ण पक्षाघात में पड़ा विसंगतियों को समर्पित हो रहा है।

ऐसा अभिशप्त यूरोप, निर्वात-शून्यता और रिक्तता से भरा यूरोप, उपर्युक्त हिम-बिंदु पर अनुभव करता है कि वह भीतर से चकनाचूर हो चुका है, उसकी ऊर्जा-ऊष्मा मंद पड़ गई है, आंतरिक विकास रुद्ध हो गया है। सारा आकाश खोखला पड़ गया है। दिशाएं क्षितिज मौन के सन्नाटे से आतंकित हैं, जीवन एक कालकोठरी है, जिसके सारे रोशनदान-खिड़कियां बंद हैं, और ऐसे परिवेश में कैद है यूरोपीय जीवन, इस उदासी, अंधकार, अभिशाप, वेदना, आत्म-अलगाव, आत्मनिर्वासन को झेलता हुआ वहां का सामान्यजन।

इस दर्द, पीड़ा, उदासी को चिंतन के स्तर पर अभिव्यक्ति दी, अतर्क्य जिंदगी के चित्रकार काफ्का ने, दो विश्वयुद्धों के भोक्ता वर्दिएफ ने, टूटे रथचक्रों के सारथी कीर्केगार्द ने नवमानवता के मसीहा दास्तोवस्की ने, आधुनिक संकट के भाष्यकार सार्त्र ने, भीड़ के संशय का दंश सहने वाले या स्पर्स ने, ईश्वर-मृत्यु के उद्घोषक नीत्शे आदि ने। इनके चिंतन के कोण और उपलब्धियां भिन्न-भिन्न होते हुए भी मूलतः इस शताब्दी के एक ही केंद्रीय मानव से जुड़ी थीं और उसके माध्यम से जुड़ी थीं एक व्यापक विषाक्त परिवेश से। इसलिए इनकी समग्रता से जो चिंतक जन्मा वही यूरोप का आधुनिकबोध माना जाने लगा। अस्तु।

उपर्युक्त हिम-बिंदु ने यूरोप में न केवल मूल्य-भ्रंशता के संकटबोध को ही जगाया बल्कि वहां एक भयंकर द्वंद्वात्मक स्थिति भी खड़ी कर दी है। यह द्वंद्व रहा है वैज्ञानिक-प्राविधिक उपलब्धियों एवं आध्यात्मिक दार्शनिक मूल्यों के बीच। बराबर टूट रही, खंड-खंड हो रही मान्यताओं, विश्वासों, मूल्यों के अनेक प्रश्न जन्माये, जिनका तर्कपूर्ण समाधान तथा विकल्प, विज्ञान ने ही प्रस्तुत किया। यूरोप के इस निर्यात को भरने में वहां का धर्म, अध्यात्म, दर्शन प्रायः असफल रहे। इसीलिए वहां के चिंतकों ने इस आध्यात्मिक शून्यता को संपूर्ण यूरोपीय-जीवन की दुर्नियति ही मान लिया, और एक निरीह दर्शक की भांति मानव की अस्तित्वजन्य जिजीविषा को ग्रसित होते देखने की व्यथा को झेला है।

इस द्वंद्वात्मक स्थिति से यूरोप का व्यक्ति न केवल स्वयं से विच्छेदित हुआ है प्रत्युत वह अपने संदर्भ, परिवेश, ज़मीन और जड़ से भी कटा है : एक पूर्ण अलगाव, कटाव, निर्वासन और अजनबीपन के बीराने में वह बिच्युत होकर जा गिरा है। समकालीन साइबेरिया में कुंठा, संशय, भूख से पीड़ित वह निर्वासित विकेंद्रित व्यक्ति क्रंदन कर रहा है। गोया उसकी गांठ-गांठ, शिरा-शिरा, पोर-पोर दर्द से जुड़ गई हों। यह बौना हुआ जा रहा व्यक्ति बोदा-वासी जीवन काटने के लिए विवश किया जा रहा है। यहीं से उसका संघर्ष और द्वंद्व और भी तीखा हो उठता है।

यूरोप की एक और अधुनातन स्थिति भी विचारणीय है। उपर्युक्त सांस्कृतिक हिम-बिंदु पर विच्छेदित, प्रश्न-विद्ध व्यक्ति ने वैज्ञानिक-प्राविधिक उपलब्धियों से जीवन

को अर्थ देने का प्रयत्न किया और अध्यातम दर्शन को टूटे कवच-कुंडलों की भांति उतार कर फेंक दिया। परंतु प्रश्नों के जो उत्तर उसके हाथ लगे थे, आज उनसे ही उसके हाथ जलने लगे हैं। उन बारूदी उत्तरों ने सारे परिवेश को डायनेमाइट कर दिया है। आणविक-शक्ति पर गर्व करने के स्थान पर उसे यह कहने के लिए विवश होना पड़ा है कि हमने अपने लिए घोर नरक की रचना कर डाली है।[1] कीर्केगार्द ने इसे प्रेत-संसार कहा है—जिस अनुपात में 'मानव' अपना यंत्रीकरण कर रहा है उसी अनुपात में वह प्रेत हुआ जा रहा है। उसकी यह भविष्यवाणी सार्थक होती जा रही है कि बीसवीं शताब्दी के उत्तर-चरण तक यह दुनिया प्रेत-संसार बन जाएगी।

यही कारण है कि इस ढल रही सदी की उदासी में उपर्युक्त द्वंद्व और भी अधिक चक्राकार और क्षिप्र हो उठा है। यथार्थ के निष्करुण धरातल पर अमानवीय संवेदना बिखरती जा रही है। जिन वैज्ञानिक आविष्कारों ने यूरोप में आधुनिकता की प्रक्रिया को गतिमान किया था—जिनकी प्रासंगिकता में वहां के संत्रस्त और सलीब पर टंगे औसत आदमी ने अपनी प्रासंगिकता ढूंढने का प्रयत्न किया था, स्वयं को जोड़ने और अर्थ देने का स्वप्न लिया था वे सब उस औसत व्यक्ति को रास नहीं आए हैं। उनसे उसकी यंत्रणा और बढ़ी है। वह उनका दंश पाकर और भी अधिक बिखरा है। उनके संदर्भ में केवल एक विसंगतिपूर्ण निरर्थकता ही उसके हाथ लगी है। उसकी त्रासदी इतनी भयंकर हो उठी है कि उससे उबरने का कोई समाधान-विकल्प नहीं दीख रहा। जिन मंत्रसिद्ध हथियारों को उसने एक कैआस की स्थिति में आत्मरक्षा के लिए उस समय उठाया था जब वहां का अध्यात्मदर्शन पंगु सिद्ध हो रहा था, अब वह उन्हीं मंत्र-भ्रष्ट हथियारों को एक बार फिर आत्मरक्षा के लिए ही उतार फेंक रहा है। प्रश्नों के अग्निवाण उसका छेदन कर रहे हैं। एक निरीह मुद्रा में ऊपर हाथ उठाए वह उन्हें छाती और पीठ, दोनों पर झेल रहा है। विकल्पहीनता में फिलहाल यही एक विकल्प बन रहा है।

बहस के इस मोड़ पर एक और प्रश्न से दो-चार होना पड़ रहा है। क्या भारतीय समकालीनता में भी ऐसा कोई हिम-बिन्दु आया है? क्या भारतीय व्यक्ति, औसत व्यक्ति का ऐसा विच्छेद घटित हुआ है? इन्हें यूं ही बरखास्त नहीं किया जा सकता। आज़ादी से पहले यहां के औसत व्यक्ति के संघर्ष की दिशा और थी। वह अनेक राष्ट्रीय आंदोलनों की भूमिका में कहीं-न-कहीं किसी-न-किसी रूप में जुड़ा हुआ था। आज़ादी के बाद ये भूमिकाएं यकायक बदल गई हैं। युद्ध जीतने पर जो पुरस्कार वितरण हुआ उसमें युद्ध को छाती पर झेलने वाले योद्धा पीछे रह गए। कुछ गणनायकों, गुल्म-प्रमुखों ने युद्ध में प्राप्त माल को बड़ी सफाई से हथिया लिया। घोषित यह किया कि वह लूट का माल सरकारी ख़ज़ाने में जमा हो गया है। अब धीरे-धीरे उसका समवितरण होगा। वह हुआ। मगर काग़ज़ी योजनाओं, विकासों के रूप में, झूठे आश्वासनों के रूप में. बड़े-बड़े नारों की शक्ल में। स्वातंत्र्योत्तर समकालीनता में भारत का औसत व्यक्ति टूटा है।

---

१. श्री अशोक वाजपेयी—समकालीन नरक का एक भूगोल। फिलहाल, १०५

उसे बुरी तरह राजनैतिक मंचों की रचना में ईंट-गारे की तरह इस्तेमाल किया गया। जिस समकालीनता से उसने प्रासंगिकता चाही थी, उसी ने उसे निरर्थक कर दिया है।[1] आज़ादी के बाद के इन अढ़ाई-दशकों में यहां पूरा हिमपात हुआ है और आज हम एक आग्नेय-हिमशिखर पर सहमे जुड़े हुए बैठे हैं—किसी भी समय ब्लास्ट होने की संभावना में एक पूरे यातना-शिविर को ओढ़े हुए।[2] उसने विच्छेद का विष-दंश झेला है। भारत-विभाजन, भारत-चीन युद्ध, भारत-पाक : दो युद्ध—२५ वर्षों में इनसे जूझकर यहां का मक्कार राजनीतिक सशक्त हुआ है और आम आदमी बुरी तरह टूटा है। इस अपाहिज राष्ट्रीय व्यक्ति के सर पर करोड़ों रुपयों का राष्ट्रीय कर्जा भी लद गया है—क्यों जो वह इन युद्धों, संघर्षों, योजनाओं, चुनाव अभियानों का एक निरीह भोक्ता जो ठहरा। आज़ाद होने का उसे पूरा दण्ड मिला है।

उपर्युक्त हिम-बिन्दु पर भारत के जनसाधारण का विच्छेद यूरोप के ऐसे ही विच्छेद से अलग प्रकार का है। वहां का व्यक्ति औद्योगिक, वैज्ञानिक प्राविधिक उपलब्धियों की सांहारिक प्रकृति का शिकार हुआ है। हमारे यहां ऐसा नहीं हुआ है। यहां का व्यक्ति भ्रष्ट तंत्र-व्यवस्था, नेतृत्व की सलीब पर चढ़ा है। यूरोप के व्यक्ति ने स्वतंत्रता का सगर्व सुख पाया है और हमने उसकी त्रासद, विवश यंत्रणा झेली है। हम स्वतंत्र होकर भी न तो अपनी समकालीनता में ही स्वतंत्र हो पाए हैं और न अपनी मानसिकता में ही। वस्तुस्थिति यह है कि अपनी समकालीनता में हमें स्वतंत्र अनुभव होने का अवसर ही नहीं दिया गया है, परिणामतः हमारी मानसिकता का संपूर्ण चरित्र ही विकलांग हो उठा है। यूरोप का स्वतंत्र और हमारा अर्ध-सामंतवादी व्यक्ति एक नहीं है। परंतु दोनों ने अलग-अलग स्तरों पर विच्छेदन को एक भयंकर विवशता में झेला है। हमारे आज़ादी के बाद के मोहभंग में[3] यूरोप की-सी भयंकर युद्धोत्तरता तो नहीं घटित हुई है, क्योंकि हमने तीनों युद्ध सीमाओं पर लड़े हैं। उन कुछ दिनों के युद्ध की अर्द्ध-विजय-पराजय ने हमें क्षत-विक्षत भी किया है। यहां विशाल विस्थापन और स्थानांतरण भी हुआ है, शिविर भी लगे हैं, परंतु उनमें यूरोप का-सा फासिज़्म और अमानुषिक यंत्रणा के परिदृश्य, बड़े पैमाने पर निरीह नरमेध नहीं हुआ। अतः यहां के मोहभंग का साक्षात्कार, मूल्यभ्रंशता का संत्रास यहां की मिट्टी की केवल ऊपरी परतों

---

१. श्री सोहन शर्मा : नवलेखन : प्रश्न चिंतन और आचरण के अंतराल का। तटस्थ, नवंबर-जनवरी, १९७१-७२

२. (क) डा० नरेन्द्रमोहन शर्मा : समकालीन काव्य-बोध और राजनीति का संदर्भ। परिशोध : अंक १४, पृ० ७-१०
   (ख) डा० महाराजकृष्ण जैन ; आधुनिकता की चुनौति और मूल्यगत संक्रमण की स्थितियां, संचेतना। दो दशक यात्रा, पृ० ५४-५७
   (ग) श्री राजीव सक्सेना : आधुनिकता की चुनौती। वही, पृ० ४९-५१

३. (क) श्री अज्ञेय : छोड़ा हुआ रास्ता : भूमिका, पृ० १८-२०
   (ख) डा० ओमप्रकाश ग्रेवाल : नए काव्य की सामाजिक आधारभूमि सप्तसिंधु। नया काव्य विशेषांक, अगस्त, १९७३, पृ० २७-३७

में ही शीलन भर सका है। अपने नव-निर्माण के लिए जितनी जल्द भारत उठा है, उतनी जल्द यूरोप नहीं उठा सका था, क्योंकि उसका युद्धोत्तर संत्रास उसकी जड़ों में जज़्ब हुआ था और वहां से जनजीवन की शाखाओं-प्रशाखाओं में भी फैला है। मध्ययुगीन भारत का विस्थापन, नरमेध, अमानुषिक बर्बरताओं का साक्षात्कार, विध्वंस, विनाश, संत्रास, चक्राकार मूल्य-संक्रमण कई सौ वर्षों के आयाम में फैला है। वह यूरोप के आधुनिक संत्रास की अपेक्षा कहीं अधिक भयंकर है। भारत के औसत व्यक्ति का वह विच्छेद, यूरोप और भारत के आज के आम जन के विच्छेद की अपेक्षा भी भयंकर है। भारत में आधुनिकता की ऐतिहासिक प्रक्रिया की तहकीक करते समय यह स्थिति प्रायः नज़र-अंदाज़ होती आई है। मध्ययुगीन विच्छेदन में अध्यात्म और धर्म की बैसाखियों ने पंगु अपाहिज भारतीय जन को खड़े होने और चलने का विकल्प दिया था, परंतु समकालीन हिम-विंदु मोहभंग और विच्छेदन में ये बैसाखियां टूटी तो नहीं हैं, परंतु चरमरा अवश्य ही गई हैं। इन्हीं के वल पर आज भारत का विच्छेदित व्यक्ति खड़ा होने के उपक्रम में घिसट रहा है, और अपनी बैसाखियों की मरम्मत के लिए यूरोपीय चिंतन की ओर देख रहा है। यही भारतीय आधुनिकबोध की विसंगति है। वह अपने मूल भारतीय संस्कारों से भी मुक्त नहीं हो पा रहा है, जो कि संभव ही नहीं, और न यूरोप के आधुनिकबोध को किसी प्रक्रियात्मक स्थिति में स्वीकार ही कर पा रहा है।

आधुनिकता की उपर्युक्त ऐतिहासिक व्याख्याओं का हिन्दी में विरोध हुआ है। आधुनिकता को सर्वांशतः अतीत-निरपेक्ष इतिहासातीत मानकर परिभाषित करने के प्रयत्न हुए हैं। उसे सर्वथा 'इतिहासहीन' मान लिया गया है।[1] इसी सिलसिले में एक और दृष्टि भी सामने आई है जो आधुनिकता को कोई निरपेक्ष प्रत्यय नहीं मानती। उसके लिए पुराने से कटना एक प्रकार की कायरतापूर्ण रूढ़ि है। इतिहास-निरपेक्ष उसका कोई अस्तित्व सिद्ध ही नहीं किया जा सकता। उसकी ऐसी व्याख्या प्रकारांतर से उसके मूल आधार को छोड़ना हैं।[2]

पश्चिम के विद्वानों ने 'अतीत' और 'इतिहास' को आधुनिकता का न केवल अनिवार्य प्रत्युत जीवंत संदर्भ माना है। केवल 'वर्तमान' ही आधुनिकता का सही संदर्भ नहीं। वर्तमान में होने से ही व्यक्ति आधुनिक नहीं होता बल्कि वर्तमान के प्रति पूर्ण सतर्कता सप्रश्नता, सजगता ही व्यक्ति को आधुनिकता से जोड़ती है। 'इतिहासहीनता' की वात पाप है, क्योंकि समसामयिकबोध को पाने के लिए अतीतबोध का पूर्ण अवगाहन अनिवार्य है। उसकी समस्त स्तरीय चेतना को पूरी तरह जीकर ही आधु-

---

१. (क) श्री विपिन कुमार अग्रवाल
द्रष्टव्य : नई कविता : स्वरूप और समस्याएं : डा० जगदीश गुप्त, पृ० २४
(ख) डा० बच्चन सिंह : आधुनिक संवेदना और हिंदी उपन्यास। परिशोध, अंक २०, पृ० ३४-३६

२. डा० जगदीश चंद्र गुप्त। वही, पृ० ७, १६, २०

निकता तक जाया जा सकता है।[१] इस स्तर पर आकर आधुनिकता मानवतावादी वैज्ञानिक प्रणाली के निकट पड़ने लगती है। वह भी सतत विचार, परीक्षण, पुनर्परीक्षण द्वारा ही अपनी स्थापनाओं को प्रतिष्ठित करने का प्रयत्न करती है।[२] आधुनिकता और परंपरा के संदर्भ में इस स्थिति पर विस्तृत विचार किया जा चुका है।

आधुनिकबोध के दो आयाम बड़े स्पष्ट हैं। इन्हें आधुनिकता के खेमे भी कहा गया है, जहां से बराबर आधुनिकता की परिणतियां, विभिन्न समकालीन सापेक्षताओं में अपनी प्रासंगिकता सिद्ध करती हुई वहां का आधुनिकबोध बन रही हैं। ये शिविर हैं—साम्यवादी, पूंजीवादी। एक के खूंटे रशिया-चाइना में गड़े हैं और दूसरे के अमेरिका तथा यूरोप के अन्य पूंजीवादी राष्ट्रों में। भारत में इन दोनों खेमों के खूंटे गाड़ने के प्रयत्न चल रहे हैं। ये सब अपनी-अपनी हांक रहे हैं। इनके पास अपनी-अपनी डफली है और अपना-अपना राग भी। मगर हमें कौन-सा राग सुनना है? कौन-सा राग हमें रास आएगा? इन प्रश्नों को विचारने से पूर्व यह जान लेना आवश्यक है कि भारतीय इतिहास और जनमानस की प्रकृति किसके अनुरूप है? भारतीय व्यक्ति को परंपरा से मिली चिंतना, विचारणा और अभिव्यक्ति की स्पृहणीय स्वतंत्रता की अपेक्षित चर्चा पीछे यथास्थान की जा चुकी है। यहां व्यक्ति-चिंतन की निर्बंध स्वतंत्रता रही है—यह एक सत्य है। यह भी एक सत्य है कि यहां समाज-मंगल का चिंतन भी व्यक्ति-चिंतन के साथ बराबर संपृक्त रहा है। बुद्ध, बृहस्पति, गोरख, कबीर, नानक का व्यक्ति-चिंतन अनिवार्यतः समाज-चिंतन से जुड़ा है। पूंजीवादी आधुनिकता से आधुनिकता का वैयक्तिक चेतना-संपन्न स्वर उभरा है और साम्यवादी आधुनिकता से सामाजिक स्थितियों से जुड़ा स्वर उभरा है। इन दोनों शिविरों में प्रतिबद्धता के अलग-अलग रूप होते हुए भी दोनों में, पीड़ा, संशय, संत्रास, कुंठा, विसंगतिबोध, आत्मनिर्वासन, विच्छेदन, विस्थापन, विकेन्द्रीकरण, धुरीहीनता, विकल्पहीनता आदि किसी-न-किसी रूप में मिल ही जाते हैं। मानव-जीवन के ऐसे हादसे केवल सामंतवादी, उपनिवेशवादी, साम्राज्यवादी राष्ट्रों में ही नहीं प्रत्युत मार्क्स-माओ के देश में भी मिल जाते हैं।[३] कम्युनिज़्म के प्रति आस्थावान दास्तोवस्की भी आधुनिकता का ऋषि है और कम्युनिज़्म विरोधी सार्त्र भी आधुनिकता का ऋषि है।

---

१. "Culture may be descrided as that which makes life worthliving, and it is that which justifies other people and other generation in saying, when they contemplate the remains and the influence of an extinct civilization that it is worthwhile for the civilization to have existed."

-Selected prose : T. S. Eliot; P. 250

२. (क) परंपरा बंधन नहीं : विद्या निवास मिश्र, पृ० ११-१५
(ख) आधुनिक हिंदी साहित्य : सच्चिदानंद वात्स्यायन, पृ० १७-२६
(ग) आधुनिक साहित्य-बोध : (एक परिसंवाद), पृ० ५

३. डा० धर्मेन्द्र गोयल : आधुनिक संवेदना। परिशोध, अंक २०, पृ० २७, २८

आधुनिकता की प्रक्रिया यदि सचमुच ही प्रश्नशीलता के विवेक पर आधृत है तो भारत को उपर्युक्त संदर्भ में पूर्ण सद्विवेक से कार्य लेना होगा। दोनों शिविरों का आधुनिकतापूर्ण चिंतन यहां की ज़मीन से आंशिक और प्रारंभिक सामीप्य और ऐक्य रखता है। व्यक्तिचिंतन और मानवमंगल यहां की संस्कृति के दो प्रमुख स्वर रहे हैं। अतः हमें व्यापक राष्ट्रीय परिवेश में उपर्युक्त दोनों शिविरों में से आधुनिकबोध के स्वस्थ और सर्वथा गैरस्यासी तया अप्रतिबद्ध अंश स्वीकार लेने चाहिए। तभी उनकी यहां की भूमि से प्राणवान संपृक्ति संभव हो सकती है। संभवतः सार्त्र ने इसी दृष्टि से नव-मार्क्सवाद की अपने ढंग से व्याख्या करते हुए कहा है—ऐसा नवमार्क्सवाद जो व्यक्ति स्वातंत्र्य और अस्तित्व को आर्थिक समता और शोषणहीन समाज से संयुक्त कर सके।[1] ऐसा मार्क्सवाद ही हमें भी अपने राष्ट्रीय-दाय के अनुरूप तराशना होगा।

दो शिविरों में बंटी आधुनिकता के दो शिनाख़ती तेवर उभरे हैं—कला का मानवीकरण और अमानवीकरण। दोनों की बुनियाद में प्रतिबद्धता के विपरीत आधार है। साम्यवादी प्रतिबद्धता, रचना में, उद्देश्य, कर्म और कार्य की प्रतिबद्धता को शोषित, दलित वर्ग से जोड़ता है। पूंजीवादी प्रतिबद्धता में उपर्युक्त प्रतिबद्धता अनिवार्यतः कला के लिए ही में सिमट कर रह जाती है, जो अपनी सारी यात्रा में केवल व्यक्ति से ही जुड़ी रहती है।[2] प्रतिबद्धता का यह सवाल लेखकीय प्रतिश्रुतता से जुड़ा है। हिन्दी के समकालीन चिंतन में इसकी विभिन्न भंगिमाएं उभरी हैं। किसी भी प्रकार की प्रतिश्रुतता से, आधुनिकता से वास्ता हिन्दी लेखक ने प्रायः इन्कार किया है। जैसे उसकी ज़िंदा रहने की कोई प्रतिश्रुति नहीं। वैसे ही लेखन के संदर्भ में उसकी कोई सामाजिक प्रतिश्रुतता नहीं।[3] सार्त्र ने इस प्रश्न को और ढंग से उठाया है। लेखकीय प्रतिश्रुतता मूलतः लेखकीय दायित्व से जुड़ी है। लेखन की स्वतंत्रता के नाम पर उसे नकारना एक प्रकार से पलायन है—क्योंकि आज के जटिल मानसिक परिवेश में मूल प्रश्न लेखकीय स्वतंत्रता को ऐसे सुरक्षित रखने का नहीं प्रत्युत उसे परीक्षित करने का है। मगर साथ ही किसी स्यासी मतवाद से, उसके लक्ष्य-प्रणाली से किसी भी प्रकार की प्रतिबद्धता अपनी चेतना से जघन्य बलात्कार भी है। समग्रतः दायित्व की भावना से लेखकीय प्रतिश्रुतता न केवल वांछनीय है प्रत्युत अनिवार्य है।[4] परंतु समसामयिक हिंदी लेखन में प्रतिबद्धता पर कृति के कोण से भी विचार किया गया है, जो लेखकीय-दायित्व,

---

१. (क) डा० शिवप्रसाद सिंह : आधुनिक संकट का शीर्ष व्याखयाता : सार्त्र। धर्मयुग, २७ दिसंबर, १९६४, पृ० १०, १६
(ख) दो ध्रुवीय अनुभूतियां : सार्त्र चिंतन। धर्मयुग, ३ जनवरी, १९६५, पृ० १०, ४६

२. श्री शशि प्रकाश : वैचारिक प्रतिबद्धता और नियोजित सक्रियता भंगिमा अंक, २६, पृ० १६-२३

३. (क) श्री राजकमल चौधरी : कलाकार का अजनबीपन : एक और उत्तर। धर्मयुग, ९ अप्रैल, १९६७, पृ० १९
(ख) डा० पवन कुमार मिश्र—प्रतिबद्धता लेखन और काला झंडा। आयाम, ११ जुलाई-अगस्त, १९७३, पृ० २२-२४

४. डा० शिवप्रसाद सिंह : आधुनिक संकट का शीर्ष व्याख्याता : सार्त्र। धर्मयुग, ३ जनवरी, १९६५, पृ० ४६

प्रतिश्रुतता, स्वातंत्र्य के बीच से उनको छूता हुआ एक नए बिंदु पर आकर खड़ा हो जाता है। उस बिंदु से जो बात उठी है उसके मुताबिक रचना स्वयं ही लेखक को प्रतिश्रुतता प्रदान करती है।[1] इस स्थिति में प्रतिबद्धता के "शिलाजीती" चरित्र पर कोई संदेह नहीं। संदेह हो सकता है प्रतिबद्धता की चेतना का। यदि लेखक पूर्ण ईमानदारी से अपने लेखन से ही प्रतिबद्ध है तो लेखकीय दायित्व, स्वतंत्रता के तमाम प्रश्न बेमाइने होने लगते हैं। लेखक की प्रतिबद्धता में 'एस्केप' की कोई गुंजाइश नहीं। साग्रह प्रतिबद्धता का हश्र प्रगतिवाद में उसकी आत्महत्या थी। प्रयोगवाद में उसकी अकाल मृत्यु। प्रतिबद्धता न तो किसी मतवाद से ही काम्य है और न किसी विशुद्ध व्यक्तिवादी दर्शन से ही। मूलतः जीवन-लेखन से प्रतिश्रुतता एक ओर उसे उसके दायित्व से जोड़े रखती है और दूसरी ओर उसकी लेखकीय स्वतंत्रता को भी कायम रखती है। समकालीन आधुनिकबोध में प्रतिबद्धता का ऐसा रूप ही अपना औचित्य साबित कर रहा है।

इस सारी बहस और जिरह को समेट कर कोई निबंधात्मक समापन करना विशेष संगत नहीं होगा। ब्यान को बंद करना, यह मानना होगा कि उठाए गए सवालों को जो उत्तर दिए गए हैं वे अंतिम हैं। किसी जवाब के अंतिम उत्तर पा जाने का अर्थ है उसको लेकर हो रहे चिंतन की तालाबंदी। आधुनिकता एक निरंतर गतिमान प्रक्रिया है जो विविधयुगीन सापेक्षताओं के दौरान अनेक प्रश्न छोड़ती आई है। वे प्रश्न धूल की तरह बैठते नहीं। प्रत्युत सदैव समकालीन चिंतन को कोंचते रहते हैं और उनसे बराबर जवाब-तलब करते रहते हैं।

---

१. श्री ज्ञानरंजन : आज की कहानी और प्रतिबद्धता का प्रश्न : नई कहानी। दशा-दिशा-संभावना, संपादक श्री सुरेन्द्र, पृ० ३३६

आधुनिकता : प्रक्रिया और स्वरूप

हिंदी में आनुनिकता के साथ एक हादसा पेश आया है। उसे कई पड़ावों पर बहुत से हाथों से गुज़रना पड़ा है। यह मात्र संयोग ही नहीं कि वे हाथ अंधों के थे। हाथी पकड़ना और उसे हिन्दी के दरवाज़े पर बांधना उनके बूते और बिसात से बाहर था। हाथी को कहावत के अनुसार निकलना था, सो निकल गया, हाथी क्योंकि यूरोप से आया था, काफी चालाक था। कहावत के ख़तरे से उसे आगाह कर दिया गया था। सो वह दुम दबाकर निकल भागा। हमारा इरादा शुरू से ही दुम पकड़ने का था और दुम पकड़ने की ताक में ही रह गए। न हाथी ही हाथ लगा और न दुम। रह गए शेष हमारे अपने ही हाथों में अपने हाथ। जिन्हें मल-मलकर हम हाथी को याद करते-फिरते हैं—गोया आधुनिकता को परिभाषित करते फिरते हैं।

हिन्दी में आधुनिकता को लेकर केवल कुछेक सतही और प्रारंभिक बातें ही हुई हैं। न तो उस सतह की खुदाई हुई है और न उन प्रारंभिक बातों को आगे ही बढ़ाया गया है। बात ज्यों-की-त्यों और वहीं-की-वहीं रह गई है—और अब तो लगभग आई-गई हो गई है। मगर तब बात और थी और अब बात और है। तब हमने आधुनिकता के बारे में जो भी कहा था वह बहुत से अन्धों के हाथों से टुकड़े-टुकड़े होकर आया था। पूरा हाथी न हमने देखा था और न ही हमारे पल्ले पड़ा। पूरा हाथी तो अब भी नहीं देखा है मगर एक लंबे अरसे बाद उस टुकड़े-टुकड़े हाथी को जोड़कर हम एक पूरे हाथी की रचना अवश्य ही कर सकते हैं।

एक और बात भी सामने आई है। आधुनिकता के हाथी को हिन्दी के गली-बाज़ारों में घूमते हुए कुछ आंख वालों ने भी 'नोटिस' किया है। उसके जलूस में वे शामिल भी हुए हैं। उन्होंने हाथी भी देखा है—गोया उसकी सवारी नहीं की है, और जलूस के नारे भी सुने हैं। बल्कि उसमें नारे भी लगाए हैं। इन बन्धुओं ने भी हिन्दी में अपनी-अपनी 'रपट' पेश की है।

इसीलिए तब और अब में बहुत अंतर आ गया है। आधुनिकता के बारे में बहुत-सी बातें हमारे हाथ लग चुकी हैं। आवश्यकता है एक क्रम में उन पर विचार करने की। आधुनिकता की कोई एक अंतिम परिभाषा पढ़ना न केवल असंगत ही होगा प्रत्युत स्वयं आधुनिकता के हक़ में भी नहीं जाएगा, क्योंकि हमने जब भी परिभाषा के जाल में इस हाथी को पकड़ना चाहा है, हाथी निकल भागा है, और खाली जाल न केवल हमारे हाथों में रहे हैं, बल्कि हम स्वयं उन में फंसे हैं।

तब हमने आधुनिकता का स्वरूप, चरित्र-विश्लेषण किए बिना ही कुछ परिभाषाएं हवा में उछाली थीं, अब जब कि वे हमारे सर आ पड़ी हैं, तब उन्हें संभालना और ढोना मुश्किल हो गया है। इसलिए भी यह और आवश्यक हो गया है कि इन्हें पीठ पर लादे-लादे घूमने से बेहतर होगा कि इन्हें खोलकर देखा जाए और इनका अपेक्षित विश्लेषण कर उनकी प्रामाणिकता, प्रासंगिकता की परख की जाए। तब बोझ कम हो जाएगा और उसे ढोना भी दुशवार नहीं होगा।

आधुनिकता की बेशुमार परिभाषाओं में कौन-सी एक प्रतिनिधि और केन्द्रीय परिभाषा है, जिससे मुआइना आरंभ किया जाए ? यह बताना कठिन है। यह तहक़ीक किसी भी परिभाषा से शुरू हो सकती है, बड़ी सुविधा से बात यहां से आरंभ हो सकती है कि—आधुनिकता एक कठोर और उलझी हुई जटिलता है।[1] ये सब बातें आधुनिकता के साथ कैसे चिपक गई ? वस्तुतः ये बातें आधुनिकता की प्रक्रिया से प्राप्त किन्हीं परिणतियों के बारे में किसी समकालीनता के संदर्भ में उठाई गई हैं, इन्हें आधुनिकता की उस टक्कर के प्रसंग में भी जांचा जा सकता, जो वह प्रत्येक समकालीनता के महाज़ पर जड़ अतीत और मुर्दा परंपराओं से लेती आई है, प्रश्नशीला-आधुनिकता इन्हें निर्ममता से छीलती और तराशती है, इसीलिए वह कठोर है। परन्तु टकराहट की यह संपूर्ण प्रक्रिया स्वतः ही मूल्यभ्रंशता के इस संघर्ष-बिन्दु पर उलझ कर जटिल हो जाती है। परंतु यह उलझन केवल प्रक्रिया के प्रारंभिक पड़ाव तक ही सीमित रहती है। उत्तरोत्तर मूल्यभ्रंशता का शून्य भरने लगता है और आधुनिकबोध का रचनात्मक और स्वस्थ पहलू उजागर होने लगता है।

आधुनिकता के सृजनशील चरित्र में उसकी विद्रोही प्रकृति की महत्त्वपूर्ण भूमिका रहती है।[2] विद्रोह आधुनिकता की प्रक्रिया की त्वरा एवं प्राणचेतना है।[3] परंतु यह संपूर्ण का निषेध और अस्वीकार नहीं प्रत्युत गलित और क्षीयमाण का सर्वांश तिरस्कार है। वहां पर समझौते की कोई गुंजाइश नहीं। उसमें स्वीकृति का स्वर भी रहता है, क्यों जो वह एक आंतरिक मूल्यगत भाव भी है. जिसका एक छोर दीर्घकालीन सांस्कृतिक विकास से जुड़ा है और दूसरा छोर यांत्रिक, वैज्ञानिक विकास-क्रम के वर्तमान बिन्दु से[4], आधुनिकता का यह आंतरिक मूल्यगत भाव अपनी व्यावहारिक परिणति में व्यक्ति और समाज के संदर्भ में मानववादी दर्शन के रूप में स्वीकृति पाता है।[5] उसका

१. It is hard to suggest a single and simple touch-stone for the note of 'Modernity"...but perhaps the nearest we can get to it is the presence...of a feeling of harsh unresolved complexity.

G. S. Frazer : Modernity in Poetry : The Modeen Writer and His World, P. 19.

२. श्री लक्ष्मीकांत वर्मा : परिप्रेक्षण की नवीनता नई कविता के प्रतिमान : पृ० ३५-३६

३. डा० ललताप्रसाद सक्सेना, 'ललित' आधुनिकबोध और परंपरा, पृ० ५

४. श्री गिरिजा कुमार माथुर : आधुनिकता की प्रक्रिया : नई कविता। सीमाएं और संभावनाएं, पृ० १०४-१०६

५. डा० जगदीश गुप्त : कवितांतर का तर्क। कवितांतर, पृ० ३८-३६

ऐसा न होना अपनी प्रक्रिया से विच्युत होना है। तब वह महज़ नकल और फैशन बनकर रह जाएगा।

आधुनिकता की उपर्युक्त सृजनशीलता किसी भी समकालीनता का रचनात्मक-बोध बन कर व्यवहार में विस्तार पाती है। वह समकालीन मानव के अंर्तसंबंधों और अंतरावलम्बनों का साक्षात्कार कर उन्हें अपने मुहावरे के अनुरूप रचनात्मक आयामों में रूपांतरित करने का प्रयत्न करती है। ये आयाम यथार्थ की भूमि पर फैलते हैं। यथार्थ की समस्त अपनीयता को सृजनात्मक अनुभव के रूप में ग्रहण करते हैं। अतः आधुनिकता की प्रक्रिया सांप्रतिकता की सापेक्षता में गतिमान होती है और उसकी विविध परिणतियां उसी सापेक्ष-विन्दु पर उद्‌भुत होती हैं।[1] और समकालीन जीवन में अपनी प्रासंगिकता अन्वेषित करती हैं। प्रत्येक समकालीनता में आधुनिकबोध को अपनी प्रामाणिकता सिद्ध करने के लिए अपने संपूर्ण परिवेश से जुड़कर उसे ललकारना होता है और अपनी प्रतिष्ठा के लिए नए सेतु-स्तूप रचने होते हैं। इस दृष्टि से आधुनिकता न केवल एक गतिशील प्रत्युत रचनात्मक प्रक्रिया है, जीवन मूल्यों की एक अनिवार्यता भी है।[2] यह प्रक्रिया अपनी रचनाधर्मिता में एक स्तर पर अपनी ऐतिहासिक निरंतरता में जुड़ी रहती, काल सापेक्षता में क्रियान्वित रहती है, दूसरे स्तर पर यह सर्वथा आगत और अनागत से निरपेक्ष होकर सृजन करती है।[3] वस्तुतः पहली स्थिति आधुनिकता की प्रक्रिया के संगर्भित होने की है। अपने ऐतिहासिक नैरंतर्य में वह अपनी आत्यंतिक सांप्रतिकता में संभावित परिणतियों का गर्भाधान पाती है और कालचेतना के एक निरपेक्ष-बिंदु पर वह उन परिणतियों को जन्माकर पुनः काल-सापेक्षता से जुड़ जाती है। वह निरपेक्ष क्षण सृजन-क्षण है। परिणतियों के सृजन का पवित्र क्षण।

हिंदी में आधुनिकता को परिभाषित करते-करते कुछ यार-दोस्त यां तो थक-हार कर बैठ गए हैं या दम तोड़ गए हैं। पिछले १५ वर्षों से मतवातर वे अपनी धारणाओं को ही नहीं स्वयं को दोहराते आ रहे हैं। आधुनिकता का रथचक्र फलांगता हुआ कई योजन आगे निकल चुका है और वे दोस्त अब उसकी धूल को उठाकर पुनः हवा में उछाल रहे हैं। उन्होंने आधुनिकता की सिद्धांत रचना कर डाली है।[4] परंतु कुछ और अधिक सतर्क-सप्रश्न चिंतकों ने आधुनिकता को सिद्धांत मानने से इंकार कर दिया है। उनके अनुसार वह विवेक है, जो निर्वात-बिंदु पर कीले जा रहे औसत आदमी को आत्म-रक्षा की दृष्टि प्रदान करता है। समकालीन संक्र मण की दुर्भिसंधियों से खबरदार करता है।[5] यह एक

---

१. डा० रघुवंश : आधुनिक-बोध या संवेदना। परिशोध, अंक २०, पृ० ११-१३

२. (क) डा० महीपसिंह : विचार की सृजनात्मक भूमिका संचेतना। विचार कविता विशेषांक, पृ० ५३, ५४, ५५

(ख) डा० नित्यानंद तिवारी : विचार और काव्य का आधुनिक विधान। वही, पृ० ९-१०

३. एन एंथौलोजी आव माडर्न पोइट्री। इंट्रोडक्शन : पृ० ६०/९

४. डा० इन्द्रनाथ मदान : हिंदी कहानी और और आधुनिकबोध संचेतना। दो दशक कथायात्रा, पृ० ६१-६३

५. श्री नंदकिशोर मित्तल : भारतीयता और अभारतीयता की उलझन। धर्मयुग, २१ फरवरी, पृ० १०, ४०

प्रकार से वह आंतरिक चेतना है जो व्यक्ति को अपनी समकालीनता में आधुनिक बनने की तमीज़ सिखाती है। आधुनिकबोध इसी आंतरिकता को स्वीकार करता है। अतः वह प्राचीन अभाव और नवीन अविर्भाव के संधि-स्थल से खिलने वाला विवेक-पुष्प है।[१] जो समकालीनता को सार्थक बनाने का शऊर सिखाता है।[२] उसे किसी प्रकार के सिद्धांत में बांधना इसलिए भी संभव नहीं क्योंकि अपने सिद्धांत (?) के अनुसार यह एक निरंतर गतिशील प्रक्रिया है।

आधुनिकता के स्वरूप के वारे में एक और विचार सामने आया है। वह एक सर्वांग सचेतनता है, जिसमें भावों का बौद्धिकीकरण और बौद्धिकता का मानवीकरण होता है।[३] यही अंदाज़ आधुनिकता को मूल्यगत नवीनता की खोज और पहिचान से जोड़ता है।[४] उसे एक सचेत सत्ता के रूप में प्रतिष्ठा देता है, और बराबर आगाह करता रहता है कि निर्यातित अथवा आरोपित कोई भी समाधान मानव-जीवन को सार्थकता प्रदान नहीं कर सकता। यह सर्वांग सचेतनता किंवा सचेत सत्ता एक ऐसी मानसिक बौद्धिक स्थिति है जो समकालीन परिवेश की जटिल मानसिकता से उदित होती है और उसे आधुनिकता का संस्कार देती है।[५] जिसका चेहरा-मोहरा अनिवार्यतः जातीय संस्कारों का रहता है। इस प्रकार आधुनिक भाव-बोध कोई संदर्भ-च्युत जीवन-मूल्य नहीं प्रत्युत संक्रमण की टकराहट से निष्पन्त आग्नेयकण है, जीवंतता का ज्वालाकण है, जो अतीत और वर्तमान के बीच की संवादहीनता को भंग कर उनमें एक लंबे सुदीर्घ संवाद का मंच प्रस्तुत करता है।[६] सार्थक 'डायलाग' के लिए आत्मीय वातावरण की रचना करता है तथा इन दोनों के मध्यवर्ती मूल्यचक्र को भी गतिमान बनाता है।

आधुनिकता को संकटबोध का घोषणा-पत्र भी माना गया है।[७] आधुनिकता की समकालीन परिणतियों ने मध्ययुगीगबोध को अधिकांशतः अपदस्थ कर दिया है। ईश्वर के प्रति अनास्था, उसके अस्तित्व में अविश्वास, उसकी मृत्यु की घोषणा, उसके निषेध में मानव-जीवन को अर्थ देने के प्रयत्न—ये हैं कुछेक ऐसे ग़जनवी प्रहार जिन्होंने मध्ययुगीनबोध का शिवलिंग खंड-खंड कर दिया है। सांप्रतिक आधुनिकबोध ने जहां मध्ययुगीनता को करारी ज़रब लगा कर डिसमिस किया है, वहां वह स्वयं उसका पूरी तरह स्थानापन्न नहीं कर पाया है। मूल्यभ्रशता के इतने भयंकर व्यापक संत्रास को आधुनिकबोध ने टुकड़े-टुकड़े कर क़िस्तों में कहीं-कही भरा है। समकालीनता की फटी-

---

१. डा० जगदीश गुप्त। नई कविता, अंक १, १९५४, पृ० ६-७
२. डा० रमेश कुंतल मेघ। मध्ययुगीन रसदर्शन और समकालीन सौंदर्यबोध, पृ० १७
३. ममता अग्रवाल : एक और अंत : धर्मयुग, २४ जनवरी, १९६५, पृ० १०
४. श्री नागेश्वर लाल : विदेशी मिजाज का तमाशा। वही, १ नवंबर, १९६४ पृ० १०
५. डा० नामवर सिंह : नई कहानी—एक और शुरूआत समकालीन कहानी। दिशा और दृष्टि : (डा० धनंजय वर्मा), पृ० ८२
६. डा० रमेश कुंतल मेघ : आधुनिकबोध और आधुनिकीकरण। परिशोध, अंक २०, पृ० ४६ ४७
७. श्री धर्मवीर भारती : आधुनिकता : अर्थात् संकट का बोध।
शिक्षायतन कालेज कलकत्ता में पढ़ा गया पत्र : नवंबर, १९५९

पुरानी चादर पर पैचवर्क किया है। इसीलिए संकटबोध कभी-कभी आधुनिकबोध का पर्याय भी लगने लगता है। परंतु उसे सर्वथा संकटबोध मानकर बैठ जाना आधुनिकबोध की सृजनात्मक क्षमताओं से जान-बूझकर मुनकिर होने के बराबर है। आधुनिकबोध को इस तनाव की ही उपलब्धि मानना आधुनिकता की प्रक्रियात्मकता से अपरिचय ही है। आधुनिकता संकटबोध भी है यह कहना कुछ संगत होगा और आधुनिकता संकटबोध ही है कहना असंगत होगा।

संवेदना का द्विभाजन भी आधुनिकता का एक मौलिक तत्त्व माना गया है।[1] आज की विभाजित आत्मचेतना और संवेदना जीवन के जटिल अनुभवों की यथार्थमुद्रा की पकड़ नहीं कर पा रहे हैं। परिणामतः रचनाकार की उलझी हुई मानसिकता, आत्म-चेतना और संवेदना के उस संदर्भ-बिंदु पर खड़े हैं, जहां से यात्रा मार्ग फटने लगते हैं तथा एक-दूसरे से दूर भी पड़ने लगते हैं, परंतु यह मार्ग समकालीनता के एक मोड़ पर पुनः एक होने लगते हैं। उनका कृत्रिम विभाजन टूटने लगता है। संवेदना के द्विभाजन की बात अब दो दशक बाद आई-गई हो गयी है। आधुनिकबोध की यह ऐसी प्रारंभिक चरित्र-रेखा है जो कालांतर में उसकी प्रौढ़ता में स्वयं ही विसर्जित हो जाती है। उपर्युक्त विभाजन अब पुनः आधुनिकता की अविभाजित संश्लिष्ट प्रक्रिया से जुड़कर एक हो रहा है।

आधुनिकबोध को अपने प्रारंभिक संघर्षों में अस्वीकार और विद्रोह के साथ-साथ समझौते भी करने पड़े हैं। क्या प्रत्येक संदर्भ में संपूर्ण अस्वीकार और निषेध ही आधुनिकता है ? शुरू-शुरू में आधुनिकबोध अपने विरोध-विद्रोह की सही दिशा और रूप निश्चित नहीं कर पाया था। परिणामतः उसने समकालीनता की शहरी बस्तियों, क़स्बों, नगरों पर भी गोलाबारी की है। इसलिए आज आधुनिकबोध सतर्क और सप्रश्न होकर बड़े एहतियात से लड़ाई लड़ रहा है। उसने अपने आक्रमण का अनुपात और नाभिक केंद्र कर लिया है। इसीलिए उसके आक्रमण अब नगरों पर नहीं होते, प्रत्युत उसके खुफिया अड्डों पर होते हैं। आधुनिकता, आधुनिकबोध ने शाश्वत से भी लोहा ले रखा है। आधुनिकभावबोध में शाश्वतता की अपेक्षा अनुभूति की ईमानदारी अनिवार्यतः अपेक्षित है, क्योंकि इसमें ही आधुनिकता का मर्म छिपा है।[2]

आधुनिकता की प्रक्रियात्मक शिनाख़्त में एक बड़ी भूल हो रही है। हाथी को पावों में सब का पावों माना जा सकता है, मगर हाथी के पावों को हाथी नहीं माना जा सकता। इधर आधुनिकता की समयुगीन परिणतियों को ही आधुनिकता माना जाने लगा है। औद्योगिक, वैज्ञानिक, तथा प्राविधिक उपलब्धियों के संघर्ष में आधुनिकता की प्रक्रिया से जो परिणतियां हाथ लगी हैं वे आधुनिकबोध की परिचायक हैं, न कि आधुनिकता की संपूर्ण प्रक्रिया और ऐतिहासिक नैरंतर्य की। प्रक्रिया से आंख मूंदकर परिणतियों को उछालना, एक शून्यता में स्वयं छलांगने के बराबर है। आधुनिकता की प्रक्रिया का एक

---

१. श्री अज्ञेय : आधुनिक साहित्यबोध के मूल तत्त्व। वही, नवंबर, १९५९

२. डा॰ देवराज दिनेश : आधुनिक साहित्यबोध। बदलते परिप्रेक्ष्य, पृ॰ ८५-८७

ऐतिहासिक नैरंतर्य है।[1] प्रत्येक युग और स्थान से गुज़रता हुआ प्रक्रिया का रथ-चक्र अपने चिह्न छोड़ता जाता है, जो उस ज़मीन से जुड़े रह कर भी किसी-न-किसी रूप में उस रथ-चक्र से जुड़े रहते हैं। आधुनिकता की विभिन्न युगीन-परिणतियां भले ही परस्पर विरोधी हो जाएं, परंतु उनकी आनुवशिक सगोत्रता कभी नहीं टूट सकती।

वस्तुतः प्रत्येक युग में उसका अपना एक विशेष युगबोध रहा है। उसकी एक दृष्टि और एक दर्शन रहा है, जिसमें तीन बातें सदा ही प्रमुख रही हैं।

(क) अतीत से प्रतिबद्धता

(ख) वर्तमान के प्रति सजगता

(ग) एक विद्रोही प्रकार की सप्रश्नता

अतीत के दृढ़, पूर्णतया विदोहित तथा सर्वथा रिक्त शक्तिकोश के प्रति भी प्रत्येक वर्तमान में लगाव रहता आया है। उसके आदर्शों और नैतिक प्रतिमानों से एक संकल्पित प्रकार की प्रतिबद्धता प्रत्येक युग के अधिकाधिक जन-समूह में मिलती आई है। उस युग के अधिकांश साहित्य में इस प्रतिबद्धता का पर्याप्त विस्तार देखने में आता है, जो उस वर्ग में विशेष प्रिय रहता है और अपनी प्रशस्ती-जीविता पाता रहता है, जो संस्कारों, विश्वासों और संकल्पों से किसी व्यतीतयुग से संबद्ध रहता है, जिसमें वह व्यतीत, भूत का अंश होकर भी अपने अभोगे भविष्य में वर्तमान रहने का प्रयत्न करता है। ऐसा साहित्य युग और उपलब्धि अथवा तात्कालिक उपयोगिता से सर्वथा शून्य रहता है। वह भक्तिकाल में वीरगाथा काल की टूटी रणभेरियां बजाता रहा और शृंगारकाल में भक्तिकाल की भव्य वीणा से बेसुरे राग अलापता रहा अथवा आज भी छायावादी, वायवी तथा रोमानी स्वप्नशीलता के थके पंखों पर उड़ने के प्रयास कर रहा है। इतना ही नहीं प्रत्युत आज ऐसे वर्ग और साहित्य में एक साथ अनेक विगत कालों की छायाएं मंडराती देखी जा सकती हैं। ऐसे समस्त साहित्य के विरोध में एक समसामयिकता उभरती रही है।

यह समसामयिकता स्वभाव से विद्रोही और समन्वयशील दोनों प्रकार की रही है। वह एक और व्यक्ति के प्रति विद्रोह करती है, दूसरी ओर अपने युग की सभी सापेक्षताओं के प्रति रहती है, क्योंकि जो आज व्यतीत लग रहा है वह अपने युग की समसामयिकता ही था अतः प्रत्येक युग की समसामयिकता आने वाले युग के लिए व्यतीत ही सिद्ध होते हैं। और विगत युगों का जो व्यतीत, व्यतीत-जीवी जनता के माध्यम से प्रत्येक युग में प्रवेश पाता रहा है...उसके साथ मिल कर वह समसामयिकता भी आने वाले युग में उपसरित होना चाहती है। इस प्रकार प्रत्येक युग को दिनोंदिन बढ़ रहे व्यतीत तथा अपने युग की लघु-जीवी समसामयिकता का बोझ ढोना पड़ता है।

---

१. (क) डा० देवीशंकर अवस्थी : एक समीक्षक के नोट्स : सन् साठ के बाद की समकालीन कहानी।। दिशा और दृष्टि (डा० धनंजय वर्मा), हिंदी कहानी, पृ० ८५

(ख) डा० धर्मेन्द्र गोयल : आधुनिक संवेदना। परिशोध, अंक २०. पृ० २४-२५

(ग) Prof. Leslie, A White : The Evolution of Culture. P. 16

व्यतीत और समसामयिकता लगभग एक ही वर्ग के दो भागों में विस्तार पाते हैं। व्यतीत का विस्तार सहनशील और सहिष्णु प्रकार के समुदाय में होता है और समसामयिमता का विस्तार इसी वर्ग के अपेक्षाकृत अधिक उन्मेषशील और आंशिक असहिष्णु समुदाय में होता है, जिसे व्यक्ति-जीवी कुलद्रोही भी कहते आए हैं। प्रतिबद्धता ऐसे साहित्य में भी मिलती है। परंतु वह उस युग की तुरंत तात्कालिकता के प्रति ही होती है। संशोधित वह भी है, परंतु अपने वर्तमान और समजीवी के प्रति। प्रशस्ति-जीविता वह भी चाहता है परंतु अपनी समसामयिकता से। जो भी घटित हो रहा है, उस सबको वह एकदम बटोर लेना चाहता है। जो भी वह साहित्य में देता है, वह पूर्ण-प्रक्रिया की परिणति नहीं, प्रत्युत अपूर्ण प्रक्रिया की अधकचरी निर्मिती है, जो कलौंसे...बर्तनों की तरह शीघ्र ही मिट्टी हो जाती है। हिंदी का अधिकांश साहित्य इसी समसामयिकता की उपज है, जो अपने ही युग में अपनी क्षणिक संभावनाएं भोग कर व्यतीत का अंश बनता रहा और आगामी युग पर दृढ़ रूप में सवार भी होता रहा। आज भी हमारे सर पर प्रचुर व्यतीत और भूत सवार है। प्रत्येक समसामयिकता ने ऐसी कट्टरता को भी जन्म दिया है, जिससे सभी युगों में आधुनिकबोध का विरोध किया है।

प्रत्येक युग में आधुनिकता की प्रक्रिया गतिशील रहती है और वह आगामी युगों में भी विद्यमान रहती है। मैं चाहूंगा कि उसके अच्युत क्रम को भी स्पष्ट कर दूं। आधुनिकता संभावित के यथार्थ, अग्रिमभोग की एक निरंतर प्रक्रिया भी है।[1] इसी अक्षांश पर इसकी समस्त प्रक्रिया का गोलक घूमता है। संभावित का अग्रिम भोग ही इसे प्रत्येक युग में आधुनिक बनाए रखता है। परंतु संभावित का यह अग्रिम भोग छायावाद की रोमानी स्वप्नशीलता से सर्वथा भिन्न है, क्योंकि वह तो यथार्थ की जमीन पर बुरी तरह बिखरती रही है। इसीलिए वह आधुनिकता नहीं बन पायी। आधुनिकता में संभावित का अग्रिम भोग यथार्थ और वास्तविक दृष्टि से ही होता आया है। जहां भी प्रक्रिया की इस शर्त का उल्लंघन हुआ है, वहां उस युग का बोध आधुनिकबोध न बनकर एक भ्रष्ट समसामयिकता बन गया है।

आधुनिकता की प्रक्रिया, आधुनिकबोध, समकालीनता की प्रक्रिया, समकालीन-बोध, आधुनिकबोध का समकालीनीकरण, समकालीन-बोध का आधुनिकीकरण—इस बहस के ये कतिपय मुद्दे रहे हैं, जिन पर अनेक संभावित प्रश्नों के संदर्भ में बाक़ायदा बेबाक़ जिरह की गई है। फैसलों के संकेत भी दिए गए हैं। परंतु कोई अंतिम और पक्का फैसला देना न तो संभव है न अपेक्षित ही। आधुनिकता की प्रक्रिया को अभी

---

१. (क) श्री अज्ञेय : छेड़ा हुआ रास्ता, पृ० २०
(ख) डा० नित्यानंद तिवारी : हिंदी कहानी की दिशा नई कहानी। दशा-दिशा संभावना (श्रीसुरेन्द्र), पृ० २६
(ग) डा० देवीशंकर अवस्थी : एक समीक्षक के नोट्स : सन् साठ के बाद की कहानी। समकालीन कहानी दिशा और दृष्टि। (डा० धनंजय), पृ० ८५
(घ) डा० रमेश कुंतल मेघ : आधुनिकताबोध और आधुनिकीकरण। परिशोध, अंक २० पृ० ४६
(ङ) डा० कैलाश वाजपेयी : आधुनिक संवेदना। वही, पृ० २१

समकालीनता के दौर से पूरी तरह गुज़रना शेष है। बल्कि यह पूरी तरह गुज़र भी नहीं सकती क्योंकि न तो आधुनिकता की प्रक्रिया ही एक ठहरी हुई स्थिति है और न समकालीनता ही। दोनों निरंतर गतिशील प्रक्रियाएं हैं, जिनकी अपनी-अपनी धुरियां भले ही हों मगर वे एक ही केंद्र से जुड़ी हैं और वे कालचक्र के एक ही पटे के साथ प्रक्रियान्वित रहतीं हैं। इसलिए एक तो बहस के मुद्दे बराबर बढ़ते और बदलते रहेंगे दूसरे ज़िरह के नए-से-नए प्रश्न भी समकालीनता के "वैंचिज" से उठते रहेंगे। किसी फैसले की स्थिति में आना इस सारी प्रक्रिया का रद्द हो जाना है।

इसलिए सारी चर्चा को समेटने के बजाए अच्छा यही है कि न तो चर्चा का ही समापन किया जाए और न प्रश्नों का ही। इनकी वल्गाओं को आधुनिकता, समकालीनता के प्रक्रियापथ पर खुले छोड़ना ही अधिक न्यायिक और वैज्ञानिक होगा, तभी प्रत्येक समकालीनता में उसके अनुरूप उत्तर मिलेंगे। चर्चा का समापन प्रक्रिया का अंत होगा और किसी उत्तर को अंतिम मानकर बैठ जाना उसके अंत की घोषणा।

समकालीन-चिंतन : समानांतर आयाम

बीसवीं शताब्दी के इन सात-आठ दशकों में, आधुनिकता की प्रक्रिया देशकाल की विविध सापेक्षताओं में निरंतर गतिमान रही है। उसने समयुगीनता के विभिन्न महाजों पर व्यतीत, दृढ़, भूत से मोर्चा लिया है। उसकी सप्रश्न और विद्रोही प्रकृति ने अपनी-अपनी सांपृतिकता को चुनौती दी है। इन दशकों की समकालीनता अनेक रक्त-क्रांतियों, जनसंग्रामों, आंदोलनों, अभियानों, आणविक-विस्फोटों, युद्धपूर्व आतकों, युद्धकालीन बर्बर विध्वंसों, युद्धोत्तर भयावह संत्रासों, विस्थापन, विच्युति, विच्छेद की यंत्रणाओं से जुड़ी है। औद्योगिक, वैज्ञानिक, प्राविधिक उपलब्धियों से संपृक्त है। स्यासी, गैरस्यासी प्रतिबद्धता के दायें-बायें शिविरों में टिकी है। ऐसी विविध व्यापक समसामयिकता की भूमि से गुज़रता हुआ आधुनिकता का प्रक्रिया-रथ विंशती के इस आठवें चरण में से गुज़र रहा है। उन्नीसवीं शताब्दी की समकालीनता के विभिन्न पड़ावों को पार करते समय यह प्रक्रिया-रथ उस ज़मीन की गंध-मिट्टी धूल भी अपने चक्रों और कलश-पताकाओं के साथ लाया है। विभिन्न स्थानों से संबद्ध इन दशकों की सापेक्षता में आधुनिकता की प्रक्रिया की अनेक ऐसी परिणतियां भी उद्‌भूत हुई हैं, जिन्होंने अपने समय की युगकालीनता को अपने संदर्भ में और स्वयं को उसके संदर्भ में व्याख्यायित करने का प्रयत्न किया है। इस प्रकार अपने समय में एक समकालीनबोध और आधुनिकबोध को प्रस्तुत किया है।

उपर्युक्त बोध एक ओर अपनी सापेक्षताओं में अपने समय से जुड़ा रहा है, दूसरी ओर वह आधुनिकता की निरंतर सप्रश्न और सदा-सर्वदा गतिशील प्रक्रिया से भी संपृक्त रहा है। उसके ऐसे रूप ने चिंतन-मनन के लिए अनेक आयाम प्रस्तुत किए हैं, जिनमें समकालीन चिंतन के अनेक तेवर मिलते हैं। ईश्वर, व्यक्ति, जगत्, को लेकर, मध्ययुगीन अध्यात्मपरक चिंतन से हटकर, परिवर्तित समकालीनता के विषम परिवेशों में नए कोणों से विचार किया है, जिसमें मूलतः द्वंद्व है। कहा जा सकता है कि द्वंद्व संपूर्ण समकालीन चिंतन के मूल में किसी-न-किसी रूप में विद्यमान रहा है। उसे एक ओर "मध्ययुगीन आधुनिकबोध" को उसी के घर पर दबोचना पड़ा है, और दूसरी ओर उसका जो अंश हमारे अपने समकालीन घर में किसी-न-किसी रूप में घुस आया है, उससे भी लोहा लेना पड़ा है। इसीलिए समकालीन-चिंतन की द्वंद्वात्मक चेतना एक साथ विश्व के विभिन्न कोनों से अस्वीकार, निषेध, विद्रोह के रूप में उभरी है। उन्नीसवीं और बीसवीं शताब्दी के प्रत्येक दशक-श्रृंग से अस्वीकार का गंधक लावा फूटा है। जलते ज्वालामुखी के गर्भ-सी यह पूरी सदी झुलसे जाने के लिए अभिशप्त मानव-अस्तित्व के बारे में बराबर सप्रश्न

रही है। संपूर्ण यूरोप के चिंतकों ने इन फट रहे ज्वालागिरि-शृंगों पर बैठकर गंभीर चिंतन किया है।

हमारा समकालीन चिंतन किसी एक देश की देन न होकर यूरोप-एशिया और पूर्वी देशों से जुड़े अनेक दशकों के चिंतन से प्रभावित है। हमारा आधुनिकबोध भले ही आधुनिकता की भारतीय प्रक्रिया से जुड़ा हो। परंतु यह भारतीय प्रक्रिया भी अपने व्यापक परिवेश में आधुनिकता की विश्वजनीन प्रक्रिया से संलग्न है। परिणामतः हमारा समकालीन चिंतन और आधुनिकबोध एक सांयोगिक घटना के रूप में नहीं प्रत्युत एक प्रक्रियात्मक और ऐतिहासिक नैरंतर्य के रूप में हमारे हाथ लगा है। इन दोनों शताब्दियों में बराबर किसी-न-किसी रूप में यह चिंतन समानांतर रूप में प्रवहमान रहा है और आज हमारी समकालीनता में भी इसी रूप में बह रहा है तथा हमारे कला-व्यवहारों, संवेदनाओं, अनुभवों और सृजन-स्तरों को प्रभावित भी कर रहा है। ये प्रभाव आज, जबकि देश-काल की सीमाएं बुरी तरह टूट रही हैं, तब और भी सघन हो उठते हैं। इस सीमा तक कि कई बार इनके बारे में संदेह भी होने लगता है—कि आया ये हमारे ही जीवन और समकालीनता से बावस्ता हैं, या कहीं और से आयात हुए हैं।

समकालीन चिंतन में प्रभावों की समानांतरता इतनी निकट होती जा रही है कि इनके संदर्भों में कई बार देशीयता-विदेशीयता का प्रश्न फिजूल भी लगने लगता है। यहां तक कि समकालीन चिंतन की बुनियादी शर्त, जातीयता, देशीयता और राष्ट्रीयता से लोहा लेना भी मानी जाने लगी है। रसल, सार्त्र, सिमोन और कामू ने—राष्ट्रीय संस्कारों को आधुनिकता का सबसे प्रबल और प्रथम दुश्मन माना है। कामू ने तो यहां तक घोषित कर रखा था कि—मैं उन थोड़े से बदकिस्मत फ्रांसीसियों में से हूं जिन्हें अपने देश पर गर्व नहीं है—क्योंकि देश और राष्ट्रीयता के नाम पर मानवता के साथ जघन्य बलात्कार हुए हैं। इस पहलू पर पीछे लंबी बहस के दौरान काफी ज़िरह हो चुकी है। बहरहाल बात इतनी है कि आज की समकालीनता विश्वव्यापी प्रभावों की निकट समानांतरता की ओर अग्रसर है—और वह तेज़ी से समय-स्थान की सापेक्षताओं से यदि कट नहीं रही तो दूर अवश्य ही होती जा रही है। इसीलिए हमारे यहां भी आधुनिकता को भारतीयता के कटघरे में खड़े होकर अपनी शिनाख़्त और प्रामाणिक प्रासंगिकता का हलफिया ब्यान देना पड़ा है।

ईश्वर-निषेध और अस्वीकार

यूरोप में या तो ईश्वर मर चुका है, और यदि कहीं जीवित है तो उससे भी कुछ बनता-बिगड़ता नहीं। यूरोप में ईश्वर कब और क्यों मरा? कैसे मरा? इसकी एक लंबी कहानी है, जो आज एक खुला राज़ बन चुकी है। उसकी चर्चा प्रासंगिक नहीं होगी। वहां ईश्वर काफी देर से बीमार चला आ रहा था। वहां की औद्योगिक क्रांतियों में उसकी घोर उपेक्षा हुई। चिमनियों का धुआं उसे रास नहीं आया। वह वहां के चर्चों में ही दिनों-दिन चारपाई पकड़ता गया और एक दिन दम तोड़ गया। बदलते वैज्ञानिक परिवेश में वहां ईश्वर की मृत्यु अवश्यंभावी थी। दो भयंकर विश्वयुद्धों की ठंडी विकराल वादियों

करता है। मृत्यु संत्रास के संदर्भ में उसमें नई जीजीविषा, शक्ति, गरिमा और सहन-में वह संभव हो गई और दूसरे विश्व युद्ध की उत्तरकालीनता की ठंडी संत्रास भरी हिम-पात की एक ठिठुरती रात में उसे दफना भी दिया गया।

नीत्से ने ईश्वर की मौत की ख़बर छोड़ी थी—कि ईश्वर की मृत्यु के कारण जगी विकल्पहीनता में मनुष्य के पास, सिवा अपने कोई अवलंब नहीं। और फिर जूलियन हक्सले ने ईश्वर का निर्भीक मुद्रा में निषेध किया और एक बेलाग बात कही कि विश्व-संरचना में किसी भी ईश्वरीय संरचना का हाथ नहीं है। यह संसार सर्वथा निरीश्वरीय है। सार्त्र ने भी ईश्वर की अनुपस्थिति की बात की है। उनका संपूर्ण अस्तित्ववादी चिंतन अनीश्वरवादी है। परंतु उनके ऐसे चिंतन का एक उज्ज्वल पक्ष यह है कि वे ईश्वर की ग़ैर-हाज़िरी को नीतिहीनता या किसी क़िस्म की अनैतिकता का समर्थन नहीं मानते। रूस से निष्कासित वर्दिएफ ने अपने आत्मनिर्यातन के यंत्रणा-शिविर से एक ऐसा अग्निबाण छोड़ा जिसने यूरोप में ईसाइयत के ईश्वरीय अड्डे ध्वस्त कर दिए। उसने घोषणा की कि ईश्वर में अविश्वास का अर्थ है ईश्वररचित संपूर्ण संसार में न केवल अविश्वास प्रत्युत उसका अस्वीकार, कामू ने भी ऐसे ही चिंतन का प्रवर्तन किया, और ईश्वर में विश्वास, उसकी अनुकंपा की याचना को जीवन से खुलेआम पलायन करार दिया। ईश्वर की सर्वांश अस्वीकृति से मानव-मंगल का पुण्यपंथ प्रशस्त हो सकता है—ऐसा कामू ने बार-बार कहा है। दास्तोवस्की ने ईश्वर के नाम पर प्रचारित उन तमाम वर्जनाओं-प्रतिबंधों पर प्रखर प्रहार किया है, जिनके नाम पर मानवता की हत्या होती आई है। ऐसी स्थिति में उसका यह कहना, सब कुछ करणीय है क्योंकि ईश्वर नहीं है—और भी अधिक सार्थक लगने लगता है। इस प्रकार ऐसे चिंतन से ईश्वरीय सत्ता के स्तूप जड़ों से भी हिले हैं और उनके गुंबदों में दरारें भी पड़ी हैं। ईसाई पुरोहित्व के विरुद्ध जहाद स्वयं में न केवल एक ऐतिहासिक प्रत्युत सर्वथा निर्भीक और साहसिक अभियान था। एक प्रकार से मक्के में खुदाई से इन्कार-जैसा था। ईश्वर की मृत्यु को तो यूरोप में केवल एक अफवाह ही नहीं प्रत्युत एक सत्य के रूप में भी स्वीकार किया गया है। वहां ईश्वर की मौत से एक निर्वात जग गया है। क्योंकि वहां अभी तक कोई नया ईश्वर नहीं जन्मा है। ईश्वर का आसन खाली पड़ा है। इस बिन्दु पर आकर वहां दोहरा नास्तिभाव आ गया है। एक नास्तिकता-से-दूसरी नास्तिकता तक की यह स्थिति (From one nothingness to another nothingness) बड़ी पेचीदा बन गई है। क्योंकि इस खाली स्थान के लिए किसी नए खुदा की रचना उनके बूते से बाहर है और पुराने काबे में खुदा की तलाश करना एक निहायत अहमकाना बेहूदगी है। इस नकारात्मक व्यवहार से एक रचनात्मक प्रयास भी उभरा है। वह है किसी ईश्वरीय सत्ता की निरपेक्षता में मानव की सार्थकता सिद्ध करना। परंतु कीर्केगार्द ने नीत्से द्वारा उद्घोषित ईवश्र की वफ़ात के बाद हो रही व्यक्ति की उपेक्षा की बात बड़े साहस से की है। साम्यवाद व्यक्तिगत मूल्यों का हत्यारा साबित हुआ है और प्रजातंत्र कुछ चुने हुए स्यासी गुर्गों का ढोंग। ईश्वर की मृत्यु के पश्चात् मानव की ऐसी दुर्गति आरंभ हो गई है।

काफ्का भी यूरोप के पूजा-गृहों में ऐसे विचारक माने गए हैं जो प्रतिक्रियावादी

सांस्कृतिक गोबर की राशि के सर्वोच्च शिखर पर बैठे हैं। "नंगे भगवान" (नेक्ड गाड) के रू-ब-रू होकर काफ्का ने उसकी खिल्ली उड़ाई है—क्योंकि उसे विश्वास है कि इन मुर्दा ईश्वरों में से किसी का भी कोई संदेश उस तक नहीं पहुंच पाएगा।[1]

जन्म का दण्ड : जीना एक ग़लत आदत :

ऐसे निरीश्वरीय संसार में जन्म एक त्रासदी है। जीना एक दण्ड है। विकराल ज़मीनदोज़ कोठरी में भयंकर यातना है, कीर्केगार्द—जिसकी रचनाओं से अस्तित्ववादी चिंतन का प्रवर्तन बहुत ही पहले हो गया था—उसने जन्म को नियति का दण्ड-विधान माना है। एक विवशता में उसे यह दण्ड झेलना पड़ रहा है। एक विकल्पहीन-निरर्थक और अंतहीन दण्ड में प्रत्येक व्यक्ति इस संसार से किसी-न-किसी रूप में कहीं-न-कहीं कोई-न-कोई प्रतिशोध अवश्य ही लेता है। परंतु कामू के लिए जन्म और जीवन मृत्यु न मिलने पर एक शेष रह चुका विकल्प ही है। ऐसे में जीवन महज़ एक आदत बन जाता है, मानव की बेशुमार ग़लत आदतों जैसी। आज स्थिति यह है कि हम कुछ सोचने की आदत डालने से पहले ही इस दंडित जीवन को एक ग़ल्त आदत की तरह ढोने के लिए अभ्यस्त हो चुके हैं। काफ्का के लिए जन्म जीवन अचानक अंधेरे में किसी काल कोठरी से सर टकराने के बराबर है जिसके तमाम रोशनदान और दरवाज़े बंद हो चुके हैं। यही उसके नज़दीक जीवन का सबसे बड़ा सत्य है। सारा जीवन इस काल कोठरी में अभिशप्त जीवन व्यतीत करने के बराबर है। ऐसे जीवन की केवल एक ही समस्या है—आत्महत्या। यह आत्महत्या कामू के मुताबिक़ उन लोगों के लिए और भी अधिक महत्वपूर्ण है जो जीवन में अर्थ ढूंढने के लिए प्रतिश्रुत हैं। समग्रतः जीवन बेहूदगियों, बदतमीज़ियों और विसंगतियों का न केवल एक तात्पर्य ही है प्रत्युत लंबा सिलसिला भी है।

मूल्य-संत्रास : यथातथ्यता का बोध :

यूरोप की सांहारिक युद्धकालीनता और संत्रासंद युद्धोत्तरता में वहां के चिंतकों ने मृत्यु की भयावह विभीषिका का साक्षात्कार किया और उसके संदर्भ में एक बार पुनः मानव-जीवन के मुद्दों-सरोकारों को परखने का प्रयत्न किया। जीवन के प्रति मध्ययुगीन व्यवहार उस संक्रांत-बिंदु पर आकर बुरी तरह बिखर गए। या स्पर्स ने मृत्यु को व्यक्तिगत अस्तित्व की कुंजी के रूप में प्रस्तुत किया। मृत्यु जीवन की न केवल अनिवार्य प्रत्युत अकस्मात् ही किसी भी क्षण घटित होने वाली संभावना है। इस द्वारा जीवन की यथातथ्यता का बोध प्राप्त होता है। क्योंकि मृत्यु एक ऐसा प्रतिमान है जो जीवन के अधिमूल्यन की प्रक्रिया को तोड़कर उसका समुचित मूल्यन करता है। मृत्यु का अविराम और संभावित आतंक जीवन को नीर्वीर्य ही नहीं बनाता प्रत्युत उसको पुंसत्व भी प्रदानशीलता का उदय होता है।

---

१. Culture and Reality : P. 2.

माना है। उन लोगों को छोड़कर जो आज भी "प्रभु की कृपा" की उम्मीद पर जी रहे

मृत्यु की बर्फीली-शिलाओं पर जीवन का रंग-गंधभीना गुलाब खिल उठता है। इस प्रकार मृत्यु-संत्रास से जीवन में निरंतर आत्मान्वेषण, की प्रक्रिया गतिमान रहती है, अस्तित्ववादी दार्शनिक मृत्यु के संदर्भ में ही जीवन की वास्तविकता तथा प्रासंगिकता प्राप्त करता है। यदि वह ऐसा नहीं करेगा तो मृत्यु-दैत्य उसे किसी भी क्षण बड़ी निर्दयता से लील जाएगा। कामू ने मृत्यु की अनिवार्य दुर्निवारता में खुशी के महत्व को आंका है। उसके विषम-वैपरीत्य में ही खुशी का असली आनंदोत्सव मनाया जा सकता है। मृत्यु-आतंक ही आनंद को रेखांकित करता है, अन्यथा आनंद मात्र हल्ला-गुल्ला बन कर रह जाएगा।

परंतु सार्त्र ने मृत्यु की उपर्युक्त स्थिति को एक और दृष्टि से आंका है। उसके लिए मृत्यु कोई महत् संभावना नहीं। क्योंकि युद्धोत्तर जटिल मुल्यसंकरता और मूल्य-भ्रंशता में समकालीन व्यक्ति मरने के लिए स्वतंत्र नहीं है...प्रत्युत वह एक ऐसा स्वतंत्र व्यक्ति है जो निरंतर मतवातर मरता है। उसके लिए मौत अभी तक बराबर एक अबूझ रहस्य है—जो उसे प्रतिदिन आत्महंता बनाए जा रहा है।

विसंगति बोध : व्यर्थता का दर्शन :

यूरोप ने मूल्य-संक्रमण के बीहड़ जंगल से गुजरते हुए पाया कि युद्धोत्तर समकालीनता के विवरों से निकल आए बेशुमार विसंगतियों के साथ उसका रास्ता घेरे हैं। उनके विषदंश से वहां का जीवन बेहूदगियों-व्यर्थताओं का ढेर बनने लगा है। इजरा-पाउंड ने इस संक्रमित स्थिति को अत्यधिक हिंसक मुद्रा से ब्यान करते हुए जिये जा रहे जीवन को अस्वीकार किया है। इस संक्रांत-बिंदु पर उन्होंने भी अनुभव किया कि वे यकायक ज्ञानहीन हो गए हैं, उनके अभिव्यक्ति के माध्यम "फ्यूज" हो गये हैं, उनके भाषा के तमाम शब्द अपना अर्थ खो बैठे हैं। प्राविधिक उपलब्धियों के उन्मादी और अकाव्यात्मक प्रभाव से समसामयिक व्यक्ति की मृत्यु हुई है और समसामयिक संसार ध्वस्त हुआ है। विसंगतियों की ढेरी पर पड़ी है विच्छेदित विच्युत, व्यक्ति की सड़ रही लाश। इसी समकालीन व्यक्ति के 'बीसवीं' शती के उत्तरार्द्ध तक पूर्ण प्रेत बन जाने की भविष्यवाणी कीर्केगार्द ने भी की थी। उसका विचार था कि हम वैज्ञानिक उपलब्धियों के साथ-साथ उत्तरोत्तर प्रेत बनते जा रहे हैं।

कामू ने दो विश्व-युद्धों के अंतराल में लटक रहे यूरोपीय जीवन की विसंगतियों की कुछ अलग व्याख्या की है। उन्हें संपूर्ण-युरोपीय जीवन अतर्क्य विसंगतियों से विषाक्त लगता है। जीवन विसंगतियों का एक ऐसा लंबा सिलसिला है कि वह उनका पर्याय बनकर ही रह गया है—जिसमें केवल एक ही समस्या है : आत्महंता बनने की। यह उन लोगों के लिए और भी गंभीर है जो इन विसंगतियों और व्यर्थताओं में कोई अर्थ ढूंढने के लिए प्रतिबद्ध हैं। परंतु यह जीवन इस सबके बावजूद भी एक लगातार निरर्थक श्रम के दण्ड जैसा है। इसीलिए कामू ने "सिसिफ़स" को विसंगतिदर्शन का प्रतिनिधि नायक

हैं—यह जीवन सर्वथा अपना अर्थ खो चुका है।

कामू ने अपने विसंगति-दर्शन का रचनात्मक तेवर भी उभारा है। उनके मुताबिक़ विसंगति और खुशी दोनों जुड़वां और सहोदरा हैं। वस्तुत: विसंगति निराशा का कारण नहीं प्रत्युत एक विरोधात्मक साधन है जो खुशी को प्रेरणा देता है। इस तरह विसंगतियां जीवन को और अधिक सभोग्य बनाती हैं। जीवन के सूक्ष्म अध्ययन के लिए अनुप्रेरित करती हैं।[1] कामू ने मृत्यु-दर्शन की तरह विसंगतिदर्शन को भी मानव-जीवन का रचनात्मक शक्तिकोश माना है।

दास्तोवस्की अंधेरे और उदासी का ऐसा शिल्पी माना जाता है जिसने प्राचीन मानवतावाद के सभी मठों को एक साथ ध्वस्त किया था। वह बीमार चिंतना का मसीहा था, उसने अपने समकालीन अभिशप्त मानव की मुक्ति के लिए यह पहली अनिवार्य-शर्त रखी थी कि वह राज्य, धर्म, नियम, विराट कास्मिक ऋत से भी मुक्त हो जाए। अन्यथा उसे आदर्शवाद के उथले-आयामों में निरर्थक होना होगा और अंतस्तरीय मानव की भांति एकांतिक आत्मनिर्यातन का निरंतर श्रमहीन दण्ड भोगना होगा। उसे अतार्किक और अर्थहीन बनना होगा। इस प्रक्रिया में मानव-समाज कभी भी तर्कपूर्ण समष्टि नहीं बन सकता।

इस प्रकार विसंगतियों को लेकर दोनों प्रकार के विचार सामने आये हैं।

मौलिक स्वतंत्रता : चुने जाने की दुर्नियति :

यास्पर्स ने मौलिक स्वतंत्रता को संपूर्ण अस्तित्ववादी दर्शन का अक्षांश माना है। इसी पर वह परिक्रमित होता है, और मनुष्य को सकी अपनीयता दिलाने की वकालत करता है। मानव की मौलिक स्वतंत्रता और मनचाहे वरण की आज़ादी—इसकीपैर वी अस्तित्ववाद में ही होती है। यास्पर्स ने इसकी एक श्रृंखला मानी है—बिना निर्णय के वरण संभव नहीं, बिना इच्छा के निर्णय संभव नहीं, बिना कर्म के इच्छा संभव नहीं, और बिना शुद्ध अस्तित्व के कोई भी कर्म संभव नहीं। कामू ने मानवीय स्वतंत्रता का विचार एक और कोण से किया है। मानव अपने समकालीन संक्रांत, संत्रस्त, परिवेश में वरण के अधिकार से वंचित है। उसके पास चुनाव करने का विकल्प नहीं। प्रत्युत चुने जाने की विडंबित दुर्नियति है। अब हम समस्याएं स्वयं नहीं चुनते बल्कि समस्याएं हमारे चुनाव करती हैं। इसलिए कामू ने एक उपदेश भी दे डाला है कि अब हमें चुने जाने की स्थिति और दुर्नियति को स्वीकार कर लेना चाहिए।

सार्त्र ने भी मानव की मौलिक स्वतंत्रता की बात उठाई है। वे मानते हैं कि मानव जीवन की नश्वरता और विसंगतियां भले ही जीवन का अंतिम सत्य हों, फिर भी नवमूल्य-संरचना, संघटना के लिए मौलिक स्वतंत्रता और वरण की स्वतंत्रता का बुनियादी महत्व है। यहां तक की संपूर्ण-विसंगति में भी मानव स्वतंत्र है। वह अपनी सभी स्थितियों के लिए अपने प्रति आप जिम्मेवार है, अतः स्वतंत्रता उसके अस्तित्व का

१. Charles Rolls : The Atlantic : May, 1958, P. 27-33.

मुख्यार्थ है। मौत तक जो मानव बन सकता है, वह बनने के लिए स्वतंत्र है। संपूर्ण व्यक्ति-स्वातंत्र्य पर उसने बार-बार बल दिया है। परंतु वस्तु-स्थिति यह है कि समकालीन व्यक्ति को जो स्वतंत्रता प्राप्त है वह किसी भी काम की नहीं है क्योंकि वह इस प्रकार ही स्वतंत्र होने के लिए अभ्यस्त तथा अभिशप्त है। वह मरने के लिए स्वतंत्र नहीं बल्कि एक ऐसा स्वतंत्र व्यक्ति है जो निरंतर मरता है। आज के सांप्रतिक संसार में वह या तो अपनी आजादी (?) से हाथ धोता रहेगा या समय आने पर वह औरों की आजादी को भी हथियाता रहेगा। दोनों स्थितियां मानव की मौलिक स्वतंत्रता और स्वतंत्रता के वरण के अधिकार अथवा आपशन का हनन करती है।

अलगाव : सांपों के द्वीप में आत्मनिर्यातन :

फ्रैंज काफ्का ने इस दुनिया के भीतर दो ऐसे अलग संसारों की खोज की जो ठीक एक दूसरे के आमने-सामने पड़ते हैं और एक-दूसरे के पूरक भी हैं और विरोधी भी। मगर उनके बीच मौत की-सी ठंडी और कुहासी उदासी फैली है—जिसने जीवन के सभी स्तरों में अलगाव की दरारें डाल दी हैं। काफ्का ने इसी स्थिति के भाष्य प्रस्तुत किये हैं, जिन्हें आधुनिक चिंतन की आयतें अथवा ऋचाएं माना जाता है। अलगाव काफ्काई-दर्शन का नाभिक बिन्दु है। इसी का ज़हर आज संपूर्ण सदी की शिराओं में दौड़ रहा है और उसकी प्रत्येक गांठ और जोड़ में हवा भर गई है और दर्द गहरा रहा है। मानवीय रिश्तों-व्यवहारों को इस कुष्ठ के बेशुमार घावों ने घिनौना बना दिया है। मनुष्य और मनुष्य का, उसके बाहरी-भीतरी अस्तित्व का, भौतिक और आध्यात्मिक अंशों का, दैनिक क्रिया-कर्मों का अलगाव रसातल-सा गहरा होता जा रहा है। पता नहीं कितनी शताब्दियां लगेगी—इन्हें मरने में।

वर्दिएफ ने दो राज्य-क्रांतियों और विश्व-युद्धों के कैंसरिक-संत्रास को सीने में दबा कर ईसाइयत के खिलाफ ज़हाद किया और बड़ी शिद्दत से अनुभव किया कि उसका "मैं" बुरी तरह विभाजित हो गया है। यह विभाजन-रेखा एक दुर्लंध्य दीवार बन रही है, जिसने अलगाव के द्वीप में समकालीन व्यक्ति को निष्कासित कर दिया है, जहां वह निरंतर अपमान, तिरस्कार, पाप, उपेक्षा का शिकार हो रहा है। ऐसे आत्मनिर्यातन में वह मौत को समर्पित हो रहा है। ऐसा तिल-तिल आत्महनन उसकी अनिवार्य दुर्नियति बन गई है।[1]

गैब्रील मार्सल ने आधुनिक मानव के इस आंतरिक और बाह्य अलगाव के लिए जीवन के अत्यधिक समाजीकरण, शासनीकरण को जिम्मेवार ठहराया है। पूरे परिवेश के यांत्रिक आक्रमण से व्यक्ति अपनी धुरी से उतरा है तथा भाईचारिक सापेक्षताओं से कटा है और अन्य सदर्भों से विच्युत हुआ है। इस अलगाव में उसकी भूमिका एक कार्यभारी एजेण्ट की है। अथवा वह जीवन-शून्य गणित का अंक है, जो जीवन की ज़रब-तक़सीम में अन्य अंकों के अनुशासन में यांत्रिक विस्तार पाता है। ऐसे विच्छेदित

---

१. द्रष्टव्य : वर्दिएफ। ड्रीम एंड रियैल्टी. पृ० ३१६

अलगाव में समसामयिक व्यक्ति सृजन, कल्पना और चिंतन की एर्वराभूमि से टूट चुका है।

परंतु सार्त्र ने इस अलगाव को नए मानव के लिए मांगलिक माना है। व्यक्ति मुर्दा हो चुका है और समकालीन संसार मुर्दाघर है। इस व्यापक शव-दाह के लिए सारे संसार को एक साथ आग देनी होगी। इससे अलग होकर ही नवमुक्त मानव अपने अनुकूल दुनिया का आह्वान कर सकता है।

वेदना : व्यक्ति-घृणा और विश्वमानवता का संदर्भ :

नाज़ी यंत्रणा-शिविरों में र्वदिए्फ ने मृत्यु का अलफ-नंगा साक्षात्कार किया था और पीड़ा, संताप, वेदना के भयावह क्रंदन को अपनी आत्मा की कंदरा में गुंजते हुए पाया था। ऐसी आत्मसमाधि में उसे यह बोध हुआ कि आधुनिक मानव-अस्तित्व का एक और मौलिक तत्त्व वेदना है। वेदना के संत्रास में ही उसने सत्य को प्रत्यक्ष होते पाया और तब यह हलफनामा प्रकाशित किया कि वेदना, भय, त्रास, क्लांति, समयुगीन मानव जीवन के अपरिहार्य रूप हैं। इन्हीं के ज्वालामुखी-गर्भ से सत्य का आग्नेय रूप फूटता है।

कीर्केगार्द ने अपने समय के मानवीय दर्द को अपनी छाती में कील की तरह ठुंका हुआ पाया और उसी में जीवन की सांस-स्पंदन का अनुभव किया। उस कील को प्राण-प्रक्रिया की धुरी मान लिया। उसमें यह एहसास बराबर बना रहा कि इस कील के निकलते ही वह मर जाएगा। जब तक वह है तब तक उसका संपूर्ण जीवन मानव-जीवन की विद्रूपताओं पर आक्रामक मुद्रा में किया गया एक प्रखर व्यंग्य-प्रहार है। वेदना की इसी व्यंग्यात्मक-क्षमता को पोप ने निरीह-वर्ग का आणविक शास्त्र माना है।

दास्तावस्की ने पीड़ा-बोध से मानव-प्रेम की मंत्र-सिद्धि की। पीड़ा-बोध से वे जनजीवन के प्रति संकल्पित हुए। वेदना की यह एक अद्भुत साधना थी। व्यक्ति-घृणा से मानवता-प्रेम की महत्त उपलब्धि उन्हें हुई थी। उनका यह कथन इसकी गवाही भरता है : मैं ज्यों-ज्यों व्यक्तियों से घृणा करता हूं त्यों-त्यों मानवता के प्रति मेरा प्रेम बढ़ता जाता है, विवशताजन्य-वेदना का यह रूप जन-जन से जुड़कर विश्व-मानवता के आयाम खोलता है।

काफ्ता ने एक अपरिचित खोखले अवकाश में वेदना को संबंधों के निकटतम कोणों के संक्रमण के रूप में फैलते हुए देखा। इस अवकाश-शून्यता से मानवीय-रिश्ते, संबंध, पहिचान, अनुरोध, सब-के-सब अजनबीपन के हिमपात के आच्छन्न हो गए। उसे लगा कि वह एक तहखाने में क़ैद है। इसी अंधकार में उसने शून्यता, विवशता की अपार वेदना को जीवन के एकमात्र यथार्थ के रूप में अनुभव किया। उसकी रचनाओं में विशुद्ध वेदना का संगीतमय मुखरण है। अभिशप्त जीवन की विवशता से यह संगीत अनुगुंजित होकर एक अर्थहीन-शून्य-आकाश में खो जाता है।

अमुखर उदासी : आत्मघाती हिमपात और आनंद की खोज

सोरेन कीर्केगार्द आधुनिक बोध का प्रथम मंत्र-द्रष्टा ऋषि माना गया है। यह मंत्र उसे किसने दिया ? कहां से मिला ? रोगी यूरोप और क्षयग्रस्त बीसवीं शताब्दी पर छाए मृत्यु-संत्रास से वहां का व्यक्ति-जीवन अनुर्वर और निर्वीर्य होने लगा था। एक लंबी बरसात की सीलन जैसी अबोली उदासी, खिन्नता, उसके चेहरे पर पुती थी। यह उदासी हिमपात की तरह परत-दर-परत मानवमन में जमती जा रही थीं। संत्रास, वेदना, पीड़ा, अलगाव, विसंगतियां, अजनबीयत—ये सब उसकी ही विभिन्न परतें थीं। सोरेन ने इस बर्फ को तोड़ा और इसमें से ऐसी बौद्धिक चेतना को अन्वेषित किया जो व्यक्ति को समस्त क्षुद्रता, निकृष्टता, हेयता, मनुष्यहीनता में एक तटस्थ व्यंगात्मक आचरण के लिए विवश करती है। इसी संकुल संक्रांत परिवेश से सोरेन ने आधुनिकबोध का मंत्र पाया। उसी परिवेश से उसका गायत्री-गान किया। अतः उपर्युक्त जीवन उसके लिए मात्र-विसंगतियों, विद्रूपताओं, व्यर्थताओं का ढेर नहीं था, प्रत्युत एक ऐसा संदर्भ था जिसने उसमें प्रखर बौद्धिक चेतना का उन्मेय किया। विनाश-विध्वंस के सुलग रहे बारूदी दहाने पर यही चेतना सोरेन के लिए संतोष-त्राण का विकल्प बनकर आई। इसी विकल्प-भूमि से उसकी रचना-धर्मिता का मूलउत्स और संपूर्ण-प्रक्रिया जुड़ी है।

सोरेन ने इस आत्मघाती उदासी में आनंद को भी खोज निकाला है। उदासी ईश्वर की परिचारिका है। यही उदासी ईश्वर तक ले जाती है। इसके आलिंगन प्रेमिका के परिरंभण से कम नहीं है। परंतु यह है सर्वथा मौन। इसके विषपान से ही सत्य का साक्षात्कार संभव हो पाता है।

काफ्का समकालीन उदास अतर्क्य जीवन का व्याख्याता माना जाता है। उसने जिस अंतःस्तरीय दुनिया की खोज की उसमें परस्पर-विरोधी दो संसार अत्यंत उदासीन मुद्रा में आमने-सामने स्थित हैं। कामू ने उसे परेशानी की दुनिया कहा है, जिसमें प्लेग का संक्रामक फैला हुआ है।

यास्पर्स के उदासी-बोध का एक कारण था युद्धकालीन विध्वंस और युद्धोत्तर संकरता-संत्रास। उसने अत्यंत उदासीन भाव से कहा था—"युद्धपूर्व यूरोप का जीवन अब शायद कभी न लौटेगा।" उसे न लौटना था और न वह लौटा ही। परिणामतः यह उदासी-दर्शन जीवन को विकलांग बनाता गया। एक और कारण भी जुड़ गया। वह था यांत्रिक-संघटन और प्राविधिक उपलब्धियां—जिनमें मानव एक मामूली पुर्जा बनकर रह गया है। इसी उदासी की मुद्रा में वह निजितत्त्व, अंतरात्मा और आध्यातिमकता के अक्ष से च्युत होता जा रहा है।

दास्तावस्की ने उदासी, अपने निस्संग, निपट एकाकी जीवन तथा विषाक्त परिवेश दोनों से प्राप्त की। इसीलिए नीरसता, ऊब, उदासी मायूसी को उसने शैशव का पर्याय मान लिया था। यही उदासी उसके तमाम जीवन में कलह, ईर्ष्या, स्नायविक उत्तेजना, निरर्थकता का विष घोल देती है और उसके परवर्ती चिंतन को संक्रमित करती है। जीवन की असफलताएं उसे पीड़ा उदासीबोध से जीवन का सूक्ष्म अध्ययन करने की प्रेरणा देती

हैं। जीवन के गहन पर्यवेक्षण के बाद उसने पूरी ईमानदारी से कहा—"मैं बीमार हूं ! बीमार हूं !! कभी न स्वस्थ होने वाला असाध्य रोगी···" यह रोग उसके जीवन में उदासी का अंधकार फैलाता हैं, जिसका वह कुशल शिल्पी माना जाता है।

सार्त्र ने फासिज़्म की यंत्रणाओं में उदासी को पकड़ा और अपने ढंग से परिभाषित किया। ऐसे अमानुषिक अत्याचारों से उस युग-व्यक्ति को एक ऐसा असंभव अस्तित्व मिला, जो उसकी नियति थी। और जिसे जीने के लिए वह विवश था। इससे बचने का कोई विकल्प नहीं था। मृत्यु के नग्न साक्षात्कार में जीवन का चुनाव होने पर निर्वासन, निर्यातन, निष्कासन,, कठोर कारावास, मृत्यु का लंबा यंत्रणापूर्ण दण्ड, एक आदत बन गया। इस स्थिति में पाप-पुण्य की कल्पनाएं खोटी पड़ गईं। सारी प्रकृति में न केवल एक अमुख उदासी प्रत्युत पूरी 'बोरडम' अनुभव होने लगी। और लगा कि मानव उपर्युक्त स्वतंत्रता में कितना निरीह और असहाय है, परंतु यह उदासी सदा ही सत्यान्वेषण के लिए बाध्य भी करती आई है।

नास्तिभाव : नहींत्व : नूतन मानववादी दर्शन :

चिंता और संत्रास के रिस रहे अलसर से नहींत्व-बोध का पारिवेशिक नाता है। यह तार्किकों के नकारवाद से सर्वथा अलग है। हैडगर ने "जगत में होना" के संदर्भ में नास्तिभाव को उठाया है। इसी से "होना" का महत्व बरक़रार रहता है। क्योंकि नास्तिभाव मूलतः मानव-मन के विवेक से जुड़ा है। हमारा व्यक्तिगत अस्तित्व अथवा "होना" बराबर मृत्यु की प्रतीक्षा में रहता है। एहसास के इसी धरातल पर "नास्तिभाव" से साक्षात्कार होता है, जो जीवन को यथार्थ की भूमि पर उसका सह अर्थ देना चाहता है। आज के विषाक्त परिवेष में यह नास्तिभाव हमें—हमारे किसी भी भाव को कभी भी लील सकता है। त्रासद स्थितियों में हमारा अस्तित्व सामान्य सीमाओं का अतिक्रमण कर 'नहींत्व' की दिशा में फैलता है। वस्तुतः वह एक नास्तिभाव से दूसरे नास्तिभाव तक फैला हुआ है। यही हमारा अकृत्रिम अस्तित्व है। इसीलिए हैडगर की धारणा है कि 'नहींत्व'—बोध मूल्यन के पक्ष में नहीं है।

हैडगर ने "दुहरे नास्तिभाव" की ऐतिहासिक व्याख्या की है। ईश्वर की मौत सच है, परंतु एक और निर्भक सत्य है कि अभी उसके स्थान पर और ईश्वर अभिषिक्त नहीं हुआ है। नए ईश्वर की स्थापना हमारे वश में नहीं। पुराने मरे ईश्वर की पूजा के लिए अतीत की कंदराओं में जाना हमारे लिए शोभनीय नहीं।

उपर्युक्त दोहरे नास्तिभाव से गुज़रते हुए हमने पाया है कि यह नास्तिभाव मात्र नास्तिभाव नहीं प्रत्युत एक अनुभव-गम्य और अनुभव-सिद्ध बोध है। जिससे नकारात्मक स्थितियां जन्मती हैं। इनका दौर बड़ा भयंकर रहता है। अपनी ऐतिहासिक यात्रा में आज का व्यवित अपनी पारिवारिक सुख-सुविधाओं, आरक्षणों के बावजूद भी एक दिन खुद को इस 'नहींत्व' के सुपुर्द हुआ पाता है। परंतु यह 'नहींत्व' 'होने' की समाप्ति नहीं प्रत्युत उसकी असलियत को जिरह के कटघरे में खड़ा करना है।

गैब्रील मार्सल ने 'नास्तिभाव' को मानव अस्तित्व की एकमात्र नियति माना है,

यह उसके विज़म में एक ऐसे महाकार ब्रह्मराक्षस के रूप में कौंदा है जो मानव-अस्तित्व को निगलने की ताक में घात लगाए बैठा है। इसी ने मानव जीवन का विषय-विषयी खंडों में विभाजित किया है। संभवतः इसीलिए हम इससे बचकर भागने का प्रयत्न करते आए हैं।

जीवन, मृत्यु, भंग, युद्ध, निराशा, संत्रास के संदर्भ में 'नहींत्व' की ओर अनेक व्याख्याएं हुई हैं। निराशा व्यक्ति अपने अस्तित्व का अन्वेषण करते समय सभी स्थूल बंधनों को अतिक्रांत करता है। यही अतिक्रांति हैडगर-चिंतन में 'नहींत्व' बनकर प्रभु के घर की ओर अग्रसर करने का माध्यम बनाती है। मार्सल ने सांसारिक आग्रहों, कर्त्तव्यों के संदर्भ में भी 'नहींत्व' पर विचार किया है, और पाया है कि आस्था और आशा का अतिक्रांत केंद्र ईश्वर है।

सार्त्र ने सचेतनता के धरातल पर नहींत्व नास्तिभाव को परिभाषित किया है। उसके अनुसार सचेत होना नास्तिभाव का ही आशय है। किसी भी प्रकार की सचेतनता से अभिप्राय है एक स्थिति को दूसरी स्थिति से अलगा कर परखना है। इस प्रकार सार्त्र का नहींत्व, अनुपस्थिति-बोध, अथवा न होने के भाव से जुड़ा है जो विरोधी भूमिका में अनेक अवमानननाएं पीकर भी प्रसन्न मुद्रा में पूर्ण मनोयोग के साथ बराबर कहे जाने वाले "नहीं" से जुड़ा है।

सार्त्र की 'नहींत्व'—संकलपना मानवीय-संवेदना से अनुबंधित है—क्योंकि सही माइनों में वही सचेतन है। ज्यों ही हमारी चेतना आशा-निराशा का युगपत विश्लेषण करती है, हम उसके आगे निष्प्रभ, हल्के पड़ने लगते हैं। शनैः-शनैः अमूर्त रूप में 'नहीं-बोध' में परिवर्तित हो जाते हैं। अतः सार्त्र-चिंतन "निहिलिज़्म"—निषेधवाद का दर्शन नहीं। वस्तुतः वह अपनी यात्रा में सार्त्र तक आते-आते रचनात्मक और मानवतावादी बन जाता है।

विद्रोह : अस्वीकार और प्रतिशोध का पर्याय :

कीर्केगार्द ने बहुत पहले यह भविष्यवाणी कर दी थी कि प्राविधिक उपलब्धियां उत्तरोत्तर मानव जीवन एवं जगत् को प्रेत-संसार बनाती जा रही हैं। द्वंद्व संस्कृति की चक्राकार गति में एक ऐसा तनावपूर्ण प्रभाव भी आएगा जब हमारे पास न तो कोई समाधान होगा और न हमारे सवालों के कोई दो टूक उत्तर ही होंगे। एक विकलपहीन स्थिति में अनिराम निर्विकल्प समर्पण के अतिरिक्त कोई और मुक्ति-मार्ग नहीं होगा। यास्पर्स ने भी विशाल यांत्रिक सभ्यता में सर्वथा यंत्र बने जा रहे मानव की दुर्नियति पर संताप प्रकट किया है। यही है मानव सभ्यता का वह आग्नेय शिखर जहां से विद्रोह का लावा फूटता है। कामू उपर्युक्त निर्विकल्प स्थिति में विद्रोह को ही एकमात्र शेष विकल्प मानते हैं। यह विद्रोह अपनी पहली मुद्रा में विसंगत संसार की अस्वीकृति है। उसने तत्कालीन विसंगतियों में तीन सत्यों का होना माना है। जीवन के प्रति संसक्ति, स्वाधीनता और विद्रोहभावना। परंतु गंभीरता से परखने पर लगता है कि मूलतः ये तीनों एक ही सत्य से जुड़े हैं। वह है विद्रोह। विद्रोह से ही स्वाधीनता का अस्तित्व है और विद्रोह से ही

संसक्ति भी सहज हो पाती है। कामू ने जिस विद्रोह की बात की है उसकी अनेक भंगिमाएं हैं : विसंगतिपूर्ण संसार की, उसके पराभौतिक, राजनैतिक रूपों की अस्वीकृति, ईश्वरीय-सत्ता की अस्वीकृति। कामू की दृष्टि में ईश्वरीय कृपा की याचना प्रत्यक्ष पलायन है। उस पर निर्भरता हीजड़ापन है। परंतु सोरेन कीर्केगार्द ने अस्वीकृति के अतिरिक्त विद्रोह की एक और भूमिका भी बतायी है। वह है प्रतिशोध। वह भारत है कि जन्म नियति द्वारा आरोपित एक दण्ड-विधान है। इसलिए प्रत्येक व्यक्ति किसी-न-किसी रूप में विश्व से प्रतिशोध लेता है। इस प्रकार अस्वीकार और प्रतिशोध इस विद्रोह की चारित्रिक विशिष्टताएं हैं। अपने समग्र रूप में विद्रोह ने यूरोपीय चिंतन की जड़ों को हिला दिया। एक ओर रूढ़ियों के स्तूपों को ध्वस्त किया दूसरी ओर रचना की नई दिशाएं भी उद्घाटित कीं।

अमानवीकरण : सूत्रहीनता और अरूपवादी कला-पैटर्न :

अमानवीकरण आधुनिकता की एक और प्रक्रियात्मक परिणति है जो बीमार, अंतस्तरीय, और अभिशप्त मानव की यातना को और भी गंभीर बना देती है। अतार्किकता और अर्थहीनता की दिशाओं में लक्ष्यहीन भटक रहा मानव एक बार फिर आदिम जीवन के प्रारंभिक पड़ावों की ओर मुड़ रहा है। कंदरा और गुफावासी बनकर अतिशय वैयक्तिकता में केंद्रित हो रहा है। दास्तावस्की ने इसे निरपेक्ष हो रहे समकालीन मानव-आत्मा के अंधलोकों की यात्रा माना है, जिसमें उसने जीवन के जड़रूप विधान को न केवल अस्वीकृत ही किया है प्रत्युत उसको विकीर्ण भी किया है। मानव मन की अंधकंदराओं से मुक्ति दिलाने वाला एक ही तत्त्व है—सौन्दर्य तत्त्व। परंतु इसकी पारिवेशिक प्रक्रिया बड़ी भयंकर है। ऐतिहासिक त्रासदियों की मोहग्रस्त मानसिक जटिलताएं तनाव, आकर्षण-विकर्षण उसे विद्रूप बनाते आए हैं। ऐसी स्थिति में सौन्दर्य-तत्त्व परित्राता की भूमिका से विच्युत हो जाता है। वह प्रियतमा के मधुर संबंधों से विमुख होकर समलिंगी संबंधों की अमानवीय स्थिति में आ जाता है। स्व-मैथुन इसी विकृति की एक और महान् विकृति है। म्यूटेंट ने यूरोप आए मानव-सभ्यता के इस अमानवीय मोड़ को व्याख्यायित किया है (**द्रष्टव्य : म्यूटेंट थ्यूरी आव इमैजिनेशन**)। न केवल व्यावहारिक रिश्तों की प्रत्युत मानसिक समलैंगिकता और स्त्रैण-भावना की उसने मानववादोत्तर संदर्भों में गवेषणा की है। नशीले और उत्तेजक द्रव्यों के अतिशय प्रयोग से जीवन को अर्थ देने के प्रयास को उसने मेटामारफोसिस नाम दिया है।

अमानवीकरण की उपर्युक्त परिणति और प्रक्रिया ने विद्रोह, प्रतिशोध, अस्वीकार, नहींत्व, अलगाव, निर्यातन, अजनबीपन की सभी मुद्राओं को अपने चेहरे पर चस्पां किया है। बल्कि कहा जा सकता है कि इन तमाम परिणतियों का एक नाम है अमानवीकरण की प्रक्रिया जो संबंधों, रिश्तों, सरोकारों, व्यवहारों के सूत्र तोड़कर एक नितांत और निरंतर सूत्रहीनता, असंपृक्तता की ओर धकेल रही है। यह परिणति कलाजगत में भी अपने गहरे प्रभाव छोड़ रही है। परिणामतः बड़े ज़ोर-शोर से शुद्ध काल-रूपों की तलाश हो चुकी है। काफ्का, प्रूस्त, म्यूसिल, प्रभृत्ति कला-चिंतकों की कृतियों में ऐसे

खालिस कला-नमूनों के अरूपात्मक प्रयोग मिलते हैं। आज एंटी-फार्मेलिज़्म अथवा अरूपवादी दृष्टिकोण जीवन की अरूपवादिता को रूपायित करने का प्रयत्न कर रहा है। यह रूप-निरपेक्षता संयोग सिद्धांत (थ्यूरी आव चांस)कोलाज-कला से संभवतः सांयोगिक मेल खाता है (?) बिखराव, क्रमहीनता के ढेर में भी एक रूप रहता है। अरूपता का भी रूप होता है। कला की ऐसी अरूपवादी अवधारणा कला की हेतुवादी-रैशनलिस्ट परंपरा, के खिलाफ एक जहाद थी। अ-कहानी अ-कविता, अनाटक और अ-कला के नारे, बैनरस जलूस भले ही अपनी संपूर्ण भगिमा में कभी-कभी, कहीं-कहीं, फैशन का आभास दें, परंतु उनका आधार सांप्रतिक मानव का अमानवीकरण की अनिवार्य प्रक्रिया में ढल रहा रूप है, जो मानवीय-संबंधों-संवेदनाओं में बारूदी पलीतों का जाल बिछा रहा है, जिसके धमाके आए दिन होते रहते हैं और जिसका धुआं जीवन में कलौंस फैला रहा है।

यूरोप का प्रेत-संसार : ईश्वर का फिर जीवित हो उठना :

यूरोप की भयंकर युद्धोत्तरता में एक ओर नौसिया, उबकाई, वमनेच्छा, मानवीय अस्तित्व की निरर्थकता का बोध जगा है दूसरी ओर ऐसे ह्रासोन्मुखी चितन में से जीवन के प्रति आस्था, विश्वास के रचनात्मक स्वर भी उठे हैं। आधुनिक संकट के शीर्ष व्याख्याता सार्त्र के नौसिया-परक चिंतन से ही "स्वतन्त्रता" की वह मुद्रा उभरती है जो उसके अनुसार मानव-अस्तित्व का मुख्य अर्थ है। उसका "नास्तिभाव" 'नहींत्व' और "मृत्युचिंतन" किसी-न-किसी स्तर पर इसी स्वतंत्रता का महत्व प्रतिपादन करते हैं। भले ही उसकी दृष्टि में मानव-अस्तित्व एक घटना अथवा संयोग हो, फिर भी उसे एक अविराम स्वतंत्रता-बोध से अपने जीवन को अर्थ देना है, अपने जीवन-मूल्य स्वयं चुनने हैं। आज की मूल्य-संकरता में जबकि मानव अपनी स्वतंत्रता से पलायन कर रहा है, ऐसे में यह और भी आवश्यक हो जाता है कि "स्वतंत्रता" की वरेण्यता को जाना जाए। साहित्य भी सामाजिक प्रतिश्रुतता के धरातल पर इसी "स्वतंत्रता" की अभिव्यक्ति है। साहित्य, साहित्य-प्रणेता की आज़ादी की, पाठक की आज़ादी के नाम एक खुली अपील है। इसी संदर्भ में सार्त्र ने नव-मार्क्सवादी भाष्य प्रस्तुत किए हैं। यह ठीक है कि मार्क्स-दर्शन ने हमारे बुर्जुआ संस्कारों को ध्वस्त किया है, परंतु यह भी उतना ही ठीक है कि उसने हमें एक ऐसे प्लेटों पर लाकर खड़ा कर दिया है जहां सिवाए आतमहत्या के और कोई भी विकल्प नहीं, क्योंकि मूल्यहीन मूढ़ता के सांप्रतिक संदर्भ में मार्क्सवाद भी हमारी आवश्यकताओं को समझने की शक्ति खो चुका है।[1]

मार्लोपान्ती ने भी जार्ज लूकाच की बोली में कहा है कि मार्क्सवादी-दर्शन व्यवस्था भी अंतशतः मानव-हितों के विरुद्ध दुरभिसंधियां करती है और वैसा ही आतंक फैलाती है जैसा कि मुनाफाखोर पूंजीवादी शक्तियां।[2]

मार्क्सवादी चिंतक लुकाचने मार्क्स की पैरवी करते हुए सार्त्र को आड़े हाथों लिया।

---

१. श्रीकांत वर्मा : जार्ज लुकाच : जिरह, पृ० १-३
२. (क) दी काम्युनिस्ट एंड पीस : सार्त्र
(ख) क्रिटीसिसम आव डायलैक्टिकल रीसनिंग : सार्त्र

है और उसके उपर्युक्त भाष्य की खिल्ली उड़ाई है। उसके मुताबिक सार्त्र ने ऐसी बातें सस्ती शोहरत हथियाने के लिए ही की हैं। बहरहाल कैफियत इतनी ही है कि सार्त्र का व्यक्तिवादी चिंतन अपने अंतिम चरण में मानवीय चिंतन के साथ जुड़ने की पूरी कोशिश में दिखाई पड़ता है।

यास्पर्स, हैडगर, मार्सल प्रभृत्ति चिंतकों ने भी मृत्यु-संत्रास के दैत्य को ललकारा है। नास्तिभाव को मानव-अस्तित्व की नियति मानकर उन्होंने घुटने नहीं टेके हैं, प्रत्युत, मृत्यु, युद्ध, भय, के अंधकार से जूझते हुए उन्होंने यह प्रस्तुत किया है कि नास्तिभाव नहीं होने को समाप्त नहीं करता बल्कि उसकी वास्तविकता को नए रूप में प्रश्नित कर उसे जीवन के लिए स्वीकार्य बनाने की कोशिश करता है।

यास्पर्स की उदासी "युद्धपूर्व यूरोप का जीवन जब शायद कभी न लौटेगा"— प्राविधिक उपलब्धियों में मात्र यंत्र बन कर रह गए मानव को देखकर और भी अधिक गहरी हो उठती है। परंतु आठ वर्ष तक निरंतर अवमाननापूर्ण यातनाओं, और व्यक्तिहंता परिस्थितियों में निर्विकल्प जीवन जीते समय उसने जब जीवन, जगत, सत्य और अस्तित्व के बारे में एकांत चिंतन किया तो पाया कि अस्तित्ववादी जीवन-दर्शन मनुष्य को उसकी अपनीयता दिलाने का आश्वासन लेकर चला है वह इसीलिए समूचे भौतिक-ज्ञान के प्रयोग और उसके अतिक्रमण की कोशिश करता है।[1]

हैडगर का व्यक्तिवादी चिंतन संपूर्ण और सामान्य मानवता की स्थिति के संदर्भ में विश्लेषित हुआ है। उसके लिए अनिश्चित मानव-अस्तित्व से अभिप्राय है व्यक्ति-आत्मा का दूसरे व्यक्तियों के ससर्ग से जगी स्थिति के भीतर अस्तित्व। मौत इस व्यक्तिगत अस्तित्व की कुंजी है। वह जीवन को नई गरिमा और उसे जीने की नई ऊर्जा प्रदान करती है। इसी प्रकार नास्तिभाव एक ऐसी अनुभवगम्य स्थिति है जो प्रत्येक नकारात्मक भाव को पकड़ने की क्षमता मुहय्या करती है। इससे निषेध का दंश कट जाता है।

मार्सल ने समकालीन जीवन और व्यक्ति के आपसी विच्छेद के संदर्भ में, शासन-व्यवस्था, समाज, यंत्र-सभ्यता पर प्रहार किए हैं। वैज्ञानिक पद्धतियां मनुष्य-अस्तित्व की समग्रता को परिभाषित करने में नितांत असफल रही हैं—यह भी मार्सल ने स्वीकार किया है। मार्सल का व्यक्ति-चिंतन न केवल आशावादी ही है प्रत्युत निष्ठावादी भी है, क्योंकि वह अपने अंतिम छोर में प्रभु से भी जा जुड़ता है। उसकी आस्था-आशा का मूल अतिक्रांत बिंदु ईश्वर ही है।

मार्सल की उपर्युक्त धारणाओं से यूरोप में ईश्वर एक बार फिर जी उठा है। ईश्वर की मौत की बात महज़ एक अफवाह बनकर रह गई है। जिस ईश्वर को मरा मानकर यूरोप के चिंतक उसके प्रति बेरुखे हो उठे थे वह सहसा अपनी क़बर से जाग उठा है। इससे कुछ लोगों में मायूसी फैली है मगर अधिकांश यूरोप ने पुनः स्वयं को ईश्वर के साथ जीवित होते अनुभव किया है।

---

१. (क) फिलासफी : यास्पर्स
(ख) फिलासफी आव लौजिक : यास्पर्स

कीर्केगार्द नीत्शे दास्तावास्की, वर्दिएफ के चिंतन में मानवीय विवशताओं का यथार्थ साक्षात्कार तो है ही, परंतु उसे एक नया अर्थ देने के मानवीय प्रयत्न भी हैं। उन्होंने मानव-अस्तित्व की प्रतिष्ठा के लिए धर्म, समाज, दर्शन, कला-संस्कृति, शासन-व्यवस्था, अनुशासन आचार-संहिता के सभी आरोपित मूल्यों को बड़ी निर्ममता के साथ उतार फेंका है। मानव-अस्तित्व को उसकी सहजता में स्वीकारने और सार्थक बनाने का उनका प्रबल आग्रह रहा है। जन्म को दण्ड मानने की अवधारणा, मृत्यु-संत्रास, विसंगति-बोध, व्यर्थता-बोध, मौलिक स्वतंत्रता का अभाव, चुने जाने की दुर्नियति, अलगाव, वेदना, अमुखर-उदासी, नहींत्व-नास्तिभाव, विद्रोह, अस्वीकार, प्रतिशोध, अमानवीकरण, अवमूल्यन, विघटन, विच्छेद, निर्यातन,—ऐसी सभी चर्चाएं अपनी प्रारंभिक उठान में भले ही घोर एकांकित, व्यक्तिवादी हों, परंतु उनका लक्ष्य-बिंदु लगभग एक ही है—मानव-अस्तित्व की सार्थकता, इसी बिंदु से, ईश्वर, आस्था, विश्वास के वे चिंतन-आयाम जुड़े हैं जो युद्धोत्तरता का पक्षाघात खाए यूरोप के जीवन में एक नया मनोबल और जिजीविषा, जगाते हैं। पतन के दहाने पर खड़ा ध्वस्त और ईश्वरहंता यूरोप बुरी तरह गिर कर फिर उठता है। अस्तित्ववादी चिंतन का यह स्वस्थ रचनात्मक और मानवतावादी रूप है, जो नारकीय यंत्रणाओं से भरे इस प्रेत-संसार में नव्य मानवता की प्राण-चेतना जगाता है।

समकालीन चिंतन : समकालीन हिंदी-लेखन के संदर्भ में

विंशती के तीसरे पहर में यूरोप के ढल रहे चिंतन के अनेक तेवर समकालीन हिन्दी-लेखन में उभरे हैं। भारतीय संदर्भ में क्या वे आधुनिकीकरण की ऐतिहासिक परिणतियां हैं ? समकालीनबोध के साथ क्या उनकी कोई प्रक्रियात्मक संगति है ? ये और ऐसे ही कुछेक प्रश्न बेसाखता घेराव करते लगते हैं। इनसे दो-चार हुए बिना आगे बढ़ना न तो संभव है और न संगत ही।

आधुनिकता के जो तेवर यूरोपीय चिंतन में पिछले दशकों में नमूदार हुए हैं, वे एक विशेष ऐतिहासिक परिवेश से जुड़े हैं। राज्यक्रांतियां, भीषण नरमेध, भयंकर रक्तपात, आंदोलन, विद्रोह, विश्वयुद्ध, युद्धपूर्व शीत-युद्ध-आतंक, युद्धकालीन विध्वंस, विनाश, युद्धोत्तर संत्रास, चक्राकारक संक्रमण, विघटन, अवमूल्यन, मूल्यभ्रंशता—यह है उस ऐतिहासिक परिवेश का यंत्रणा-शिविर जिसमें यूरोप का चिंतन पनपा है। आधुनिक-बोध के नाम पर जो समग्र चिंतन सामने आया है, वह यूरोप के विभिन्न नगरों, द्वीपों, उपद्वीपों में टुकड़ों के रूप में उभरा है और एक ही दिन में उसने आकार ग्रहण नहीं किया है प्रत्युत उपर्युक्त ऐतिहासिक परिवेश में निरंतर कई दशकों में प्रक्रियात्मक रूप में तत्कालीन विविध विरोधी सापेक्षताओं में जन्मा है और धीरे-धीरे प्रचारित तथा प्रतिष्ठित हुआ है।

आज जब कि यूरोप में एक ओर आधुनिकबोध के चुक जाने और नव्य आधुनिकबोध के आगमन की बातें हो रही हैं वहां भारतीय संदर्भ में, हिन्दी-नवलेखन में उसी चुके जा रहे आधुनिकबोध की चर्चा हो रही है, क्यों ? इस स्थिति पर पीछे विस्तृत विचारणा हो चुकी है। यहां केवल इतना कहना ही पर्याप्त है कि भारत का ऐतिहासिक परिवेश बहुत से स्तरों पर यूरोपीय ऐतिहासिक परिवेश से सर्वथा भिन्न है। यहां न तो अभी ईश्वर मरा है और न यहां के लोग उसे मारने में इतनी जल्दबाजी करने के मूड में हैं—जितनी यूरोप के लोगों ने की है। अतिरिक्त इसके यहां के लोग अभी तीन दशक पूर्व स्वतंत्रता-प्राप्ति के लिए चल रहे राष्ट्रीय अभियानों का एक अभिन्न अंग थे। उसे ऐसे आंदोलनों से अलग हुए बहुत समय नहीं बीता है। यहां यूरोप जैसे यंत्रणा शिविर भी नहीं तने हैं। युद्धपूर्व, युद्धाकालीन, युद्धोत्तर संत्रास के यूरोप जैसे भयावह परिदृश्य भी भारत में उपस्थित नहीं हुए हैं। यहां के औसत व्यक्ति ने विच्छेद, अलगाव, आत्म-निर्यातन का वैसा ही विषदंश नहीं पाया है, और न वैसे ही प्राविधिक उपलब्धियों के कारण विशाल मशीनी संगठन में वह स्वयं संवेदना-शून्य यंत्र ही बना है।

इस दौरान भारतीय जन-जीवन यूरोप के आधुनिक चिंतन से भी प्रभावित हुआ है। ये प्रभाव उसने अपने परिवेश की सापेक्षता में स्वीकार किए हैं। अतः भारत में आधुनिक-चिंतन के सविलंब समुदय के ऐतिहासिक कारण हैं। यूरोपीय-चिंतन का जो तेवर यहां के नगर जीवन के किसी स्तर में रोपित होकर साहित्य में अंकुराया है और समकालीनबोध की सापेक्षता में उभरा है वह यहां की आधुनिकता की प्रक्रियात्मक परिणति है। इस प्रक्रिया के मुख्य द्वार की अपेक्षा पिछले दरवाजे से जिस यूरोपीय चिंतन का आयातन हुआ है वह हिन्दी-लेखन में फैशन मात्र बनकर रह गया है, वह बराबर प्लाप और हूट हुआ है।

हिन्दी के समकालीन-लेखन में आधुनिकबोध की बेशुमार भंगिमाएं-मुद्राएं उभरी हैं। हिन्दी के समानधर्मो लेखक ने अनुकूल आलोचक न मिलने पर, अपना आलोचक स्वयं बनने का ख़तरा मोल लिया है। उसके आत्म-वक्तव्यों में उसके लेखन की एक ऐसी नई नैतिक-चारित्रिकता सामने आई है, जो उसे पूर्ववर्ती लेखन-धर्मिता से सर्वथा अलग कर देती है।

हिन्दी का पूर्ववर्ती लेखक समकालीन चिंतन की दरी से उठ गया है और शाश्वत होने की अपनी शोभा यात्राओं में मसरूफ है। उसका न तो समकालीन व्यक्ति से कोई सरोकार और संवाद है और न उसके साक्षात्कार की उसके पास फुर्सत ही है। उसे न कभी औसत इन्सान की पड़ताल से ग़रज़ थी और न ही परवाह। इसीलिए उसके कर्म में वह आम आदमी ग़ायब है। चिरंतनता के चक्कर में उसका रैटारिक निरा भाषण और पैबंद भरा है। चालू तनावहीन मुहावरों, सरलीकरण सामान्यीकरण से आक्रांत है। उसके समग्र कर्म की संरचनात्मक मुद्रा छद्म अभिजात्य की है जिसमें आत्मस्फीति, तटस्थ असंपृक्ति, अप्रासंगिक समन्वयवादी समझौते, आरोपित दार्शनिकता का लटका, सांप्रतिक मानवीय सम्बन्धों के यथार्थ अंतर्विरोध से नितांत बेरुखी है। वह साक्षात्कार का नहीं सुरक्षा और पैंशन पाने का साहित्य है, इसीलिए उसमें मानवीय अनुपस्थिति है। ऐसे बजुर्ग-साहित्यकार हमारे संपूज्य हैं। वे मंच अथवा पुरातत्व संग्रहालयों के शोभा-उपकरण हैं। मगर कोफ्त तब होती है जब **"बूढ़ा गिद्ध पख फैलाकर"**[1] समकालीन रोशनी और हवा को भी रोकने लगता है।

हिन्दी के समकालीन लेखकों ने आधुनिकबोध और नव्यआधुनिकबोध, दोनों के संदर्भ में रायज़नी की है। अज्ञेय, राकेश, कमलेश्वर, राजेन्द्र यादव, निर्मल वर्मा, मन्नू भंडारी, उषा प्रियंवदा के लेखन और वक्तव्यों में आधुनिकबोध की खंड-खंड अभिव्यक्ति हुई है और रमेश बक्षी, राजकमल, मुद्राराक्षस, कृष्णा सोबती, निरुपमा सोबती, दीप्ति खंडेलवाल, मृदुला गर्ग, के लेखन-चिंतन में नव्यआधुनिकबोध की भंगिमाएं हैं।

हिन्दी के पहले खेवे के समकालीन लेखकों ने असंतोष को नई पीढ़ी का जीवंत सत्य माना है।[2] अपनी पूर्ववर्ती तथा अपने से अलग उसी समवर्ती पीढ़ी के लेखन में

---

१. श्री अशोक वाजपेयी : बूढ़ा गिद्ध क्यों पंख फैलाए। फिलहाल, पृ० ८७-९६
२. असंतोष नई पीढ़ी का जीवंत सत्य : एक परिसंवाद। धर्मयुग, ९ मई, १९६५, पृ० १७, ३४

उन्होंने जीवन की मानसिक शिथिलता मानी है, जो उनके लेखन की सांप्रतिक प्रासंगिकता को सर्वथा अनद्यतन बना देती है। पूर्ववर्त्ती पीढ़ी विषय परिवेश में समन्वयात्मक समझौतावादी मध्ययुगीन नुस्खा अब भी प्रयुक्त करती जा रही है। परिवेश वैषम्य के प्रति उसमें विद्रोही चेतना नहीं है। व्यतीत के शव-वाहन के प्रति असंतोष नहीं। यही असंतोष एक ऐसा सांस्कृतिक माध्यम है जो समकालीन लेखक को समकालीन संघर्ष के लिए हथियारबंद करता है[1], जबकि पूर्ववर्त्ती पीढ़ी के लेखक इस सघर्ष में नि शस्त्र होकर परिवेश से संधियाचना करते फिरते हैं।

असंतोष की भी दो मुद्राएं सामने आई हैं। ठंडी और गर्म, चीनी सीमांत-संक्रमण तक एक शीत और निष्क्रिय असंतोष मिलता है और उसके बाद एक ऐसा अवैकल्पित असंतोष उसकी धमनियों में कसमसाता है जो उन्हें चीर कर आक्रोश के रूप में अभिव्यक्ति पाता है। यह आग उसमें प्राचीन के शव-संवाहन के प्रति नौसिया भी जगाती है और उसके आगे एक रचनात्मक आयाम भी खोलती है।[2] धर्मवीर भारती में यही जीवंत असंतोष माना गया है।[3]

हिमखंड-ग्लेशियर का फटना :

वस्तुतः चीनी आक्रमण से भारतीय जीवन का तैरता हिम-खंड-ग्लेशियर फटा और फूटा है। हमारे ठंडे नपुंसक असंतोष में एक आग खौलने लगी है। सत्ता, व्यवस्था, आर्थिक और सामाजिक विषमता में समकालीन-हिंदी लेखकों की नई पीढ़ी ने बड़ी शिद्दत से अनुभव किया कि हमारी गुटनिरपेक्षता का ग्लैमर टूटा है और इस संक्रांत-बिंदु से भारतीय अवाम की व्यक्ति-विच्छेदन की प्रक्रिया आरंभ हो गई है। विच्छेदित व्यक्ति स्वयं को असंतोष के इस नए ऐतिहासिक मोड़ पर पाता है, और पाता है कि वह आज़ादी के बाद लगभग सभी संदर्भों में बुरी तरह निरर्थक बना है।

यह असंतोष विद्रोही अस्वीकार को जन्माता है। पुरानी पीढ़ी पुरातत्त्व के स्थायी कक्षों में प्रतिष्ठित होने की फिकर में थी। अतीत के रिक्त थोथे जड़ मूल्यों की शोभायात्रा में समकालीन लेखक ने न केवल उसकी पालकी में कंधा देना अस्वीकार किया, प्रत्युत उस जलूस में शामिल होने से भी इन्कार कर दिया। अब यह अपने आगे-पीछे अपने पोस्टर चिपकाए, हाथ में अपना झंडा उठाए, स्वयं ही अपना जलूस निकालने और अपने नारे उलझाने के लिए उद्यत हो उठा है। यहीं से उसका प्रस्थान आरंभ होता है।

भारत की भूखी पीढ़ी : बीट आंदोलन : भूख का मानवीय संदर्भ :

क्या यह मात्र संयोग ही है कि ई० सन् १९६२ में चीनी आक्रमण हुआ और उसी वर्ष अमरीका के बीटनिक एलेन गिंसबर्ग की प्रेरणा से "भूखी पीढ़ी" का भी जन्म

१. श्री मुक्तिबोध : नयी कविता का आत्मसंघर्ष और अन्य निबंध, पृ० ३५, ३६
२. श्री शमशेर बहादुर सिंह : कल्पना, अंक १४०, पृ० ३९
३. डा० धर्मवीर भारती : सारिका, नवंबर, १९६४

हुआ। इसी वर्ष श्री गिंसवर्ग कलकत्ता भी आए थे। "भूखी पीढ़ी" के प्रसंग में "बीट आंदोलन" का स्मरण हो आना भी स्वाभाविक है। इन्हें एक मानने की सुखद भूल हिंदी के चोटी के विद्वान भी करते आए हैं। जबकि "बीट आंदोलन" का जन्म वैषयिक प्राचुर्य्य से हुआ था और "भूखी पीढ़ी" का समारंभ जीवन के महा-अभावों से।[१] परंतु कलकत्ता की भूखी पीढ़ी ने अपने संदर्भ में यौन-भूख के आरोप का विरोध किया है और भूख को मानवीय संदर्भ में परिभाषित किया है। ट्रामकार के पहिये को छाती पर झेलते हुए वहां के एक भूखे रचनाधर्मी के मुताबिक़ कुचल देने वाले हर पहिये के खिलाफ विद्रोह की भूख ही हमारी भूखी पीढ़ी की "भूख" है।[२] यही भूख व्यापक मानव-संवेदना से जुड़कर भूखी पीढ़ी के माध्यम से एक नए रचनात्मक मुहावरे की खोज कर रही है।

समकालीन जीवन की सुरंगें : असंतोष, आक्रोश प्रतिशोध के पलीते :

भूखी पीढ़ी के भारतीय रचनाकारों के जीवंत अहसासों (?) के शिनाख़्ती तेवर भले ही चौंका देने वाले लगें, परंतु एक बार तो वे बड़ी बेरहमी से हमारे समकालीन जीवन में जमी बर्फ़ पर पैना प्रहार करते हैं। उनकी मान्यताएं पलीतों के जाल की तरह समकालीन ज़मीन की सुरंगों में दबी पड़ी हैं—और प्रत्येक टकराहट में वे बलास्ट करती हैं।

भूखी पीढ़ी में कसमसा रहा असंतोष, क्रोध, आक्रोश, प्रतिहिंसा, प्रतिशोध है। वह दूसरों के दर्द में, घोर अवसाद में चीख़ता भी है और अपनी संपूर्ण शक्ति से आक्रमण भी करना चाहता है। चाहता है एक ठोकर, जो झूठे माइनों में प्रतिष्ठित, पूजित है उसे तिरष्कृत कर दे। उसने अपना ही जीवन दर्शन रचा है—इतिहास किसी चिड़िया तक का भी नाम नहीं। ईश्वर मांस का एक लोथड़ा है, अपने व्यक्तित्व के साथ आत्मा का एकीकरण है शिल्पतंत्र है। मृत्यु 'गुरुत्वहीन' है। विध्वंस विनाश जीवन की समस्या है। 'चरम' से संगर्भित साहित्य ही जीवंत बना रहता है। वह यश का भी नहीं। प्रतिष्ठा के सरकारी मार्ग पर मरे सांप की तरह निष्प्राण पड़े रहने का नाम ही यश है।[३]

"मुखोश-टा खुले नीन :

अपने चेहरे से नकाब उतार फेंकिए।"

भूखी पीढी पर अश्लीलता, नंगेपन, मर्यादाभंग, सौदेबाज़ी, के आरोप उनके हैं, जो उनकी भूख और उसके कारणों को जानने का प्रयत्न करना भी गवारा नहीं करते।

१. समीरराय चौधरी, सुविमल बसाक : ट्राम के पहिये और कुचला हुआ आदमी। धर्मयुग, २३ मई, १९६५, पृ० ४

२. बंगाल की भूखी पीढ़ी के मूर्धन्य कवि जीवानंददास ट्राम-कार के पहिये के नीचे चार फर्लांग तक कुचलते-घिसटते चले गए थे।—एक खबर : धर्मयुग, २३ मई, १९६५, पृ० ४

३. सुविमल बसाक। इग्री जेन रेशन—५८; अगस्त, १९६४

वे अपने मुखौटे उतार कर इस सत्य का साक्षात्कार करने से डरते हैं—क्यों जो यह सत्य उनके चेहरों पर रेखाओं के रूप में उभर आया है और उसे छिपाने के लिए वे बराबर प्रयत्नशील हैं। इस भूखी पीढ़ी ने उपर्युक्त मुखौटाधारियों, प्रसिद्ध शिक्षा-विशारदों, कला-विशेषज्ञों, बुद्धिजीवियों, राजनयिकों, प्रशासनिक अधिकारियों को बेशुमार दैत्याकृतियों के मुखौटे डाक से भेजे। उन पर लिखा था—अपने चेहरे से नक़ाब उतार फेंकिए। नक़ाब : ग़लत अवधारणाओं, मान्यताओं, संकल्पों, विश्वासों की नक़ाब, ग़लत मूल्यों, भाषणों, व्यवहारों की नक़ाब ग़लत रूपविधाओं, विधानों, कला-पैटर्नस, की नक़ाब।[1] भूखी पीढ़ी की भूख है ऐसे सभी मुखौटों को उतार कर उन ग़लत लोगों को अनावृत्त करने की जो जीवन को अनुशासित और प्रशासित करते आ रहे हैं।

टीन-टप्पर सहित उड़ती मान्यताएं : घोषणा-पत्र :

भूखी-पीढ़ी का घोषणा-पत्र व्यवस्था-बोध के प्रति आक्रोश और वर्तमान दिशा-बोध के प्रति टोटल अविश्वास को रेखांकित करता है। भूखी पीढ़ी का लेखक अपनी बुशर्ट उतार कर समकालीनता के चौराहे पर नगा खड़ा है। एक हाथ में अपनी बुशर्ट का बैनर थामे है और दूसरे हाथ से समय की दीवार अपना घोषणा-पत्र उरेह रहा है। समकालीन भीड़ का पूरा नोटिस पाने के लिए वह अलफ नंगा होना भी गवारा कर सकता है, बशर्ते कि उसे गंभीरता से लिया जाए, उसके घोषणा-पत्र को पोशीदा बीमारियों का पोस्टर मात्र न समझ लिया जाए।

कलकत्ता की भूखी पीढ़ी के उपर्युक्त घोषणा-पत्र को कुछेक समकालीन हिंदी-लेखकों का भी पूर्ण समर्थन प्राप्त था इस संदर्भ में रमेश बक्षी और राजकमल चौधरी के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं। घोषणा-पत्र इस प्रकार है[2]—

१. हम सब लाज़मी तौर पर बेईमान हैं।
२. पति-पत्नी के रिश्ते एक घातक रवायत है और जिस्मी-ताअलुक़ात पाक-दोस्ती है।
३. मां शब्द जन्म देने का बोधक है और जन्माना कोई एहसान नहीं इसलिए मां को मां नहीं बल्कि दीदी कहना ज्यादा वाजिब होगा।
४. बचपन के कच्चे रोमांसों की कविताएं, छुटपने में जगह-जगह टट्टी-पेशाब करने और कच्ची मिट्टी खाने की आदतों जैसी है। बड़े होकर इन आदतों को दुहराना कोई अक़लमंदी की बात नहीं।
५. लेखन हमारे लिए मिशन और आक्सीजन है, महज़ तिलक या यज्ञोपवीत नहीं प्रत्युत शरीर की खाल है। कविता लिखना अपनी खाल खिचवाने से भी ज्यादा त्रासद है।

---

१. राजकमल चौधरी : लेकिन यह भखी पीढ़ी है क्या ? धर्मयुग, १७ जनवरी, १९६५ पृ० १७
२. द्रष्टव्य : श्री रमेश बक्षी : नई पीढ़ी : एक ऊंचाई की तलाश। धर्मयुग, २७ जून, १९६५ पृ० १०, ४६

६. हम केवल रोज़ाना वेतन पाने की शर्त पर ही नौकरी करेंगे। बीमा और पेंशन हमारे लिए निरर्थक हैं। जेल, अस्पताल, पागलखाना, श्मशान, हमारे मनोरंजन गृह होंगे।

७. हमें बेपरदा जीवन पसंद है। इसीलिए दरवाज़ों पर पर्दे लटकाने की बजाए हम उनकी बुशशर्ट सिलवा लेंगे क्योंकि पर्दे एय्यासी के साधन हैं।

पुरानी नैतिकता के फटे हुए जूते और गिजगिजी जुराबें :

बंगाल की भूखी पीढ़ी के अनेक तेवर समकालीन हिन्दी लेखन में भी उभर रहे हैं, गोया खरबूजे को देखकर खरबूज़े रंग पकड़ रहे हैं। बंगाली पेटियों के खरबूज़े तो सड़ने की नौबत में है मगर हिंदी के खरबूजे-वे भले ही स्वयं छुरी पर गिरें, या छुरी उन पर गिरे, कटना उनकी नियति है—इस नियति की इंतज़ार में वे हैं ?

भूखी पीढ़ी के संपर्क से हिन्दी-नवलेखन में परहेज़गारी टूटी है। व्यर्थ का "वैजिटेरियनिज़्म" ख़त्म हुआ है। नतीजा यह निकला है कि समकालीन हिन्दी-लेखक ने पुरानी नैतिकता के फटे हुए जूते उतार फेंके हैं और अब वह नए जूते खरीदने की ताक में है।

भूखी पीढ़ी ने अपनी आचरण-संहिता में कई नए नैतिक विधान माने हैं और हिन्दी-लेखक ने भी उन्हें किसी-न-किसी रूप में स्वीकार किया है।[1]

० चटखारे लेकर किसी लड़की के प्यार की और उसके जिस्म के नंगेपनकी बातें करना, किसी भी प्रकार अश्लीलता नहीं।

० सर्वथा सर्वांशतः शरीर का होकर जीने से कोई भी कुंठा-ग्रंथि नहीं बनती।

० प्रेम और विवाह अलग-अलग ध्रुवों से जुड़े हैं ये दोनों विरोधी नहीं हैं, पर यह भी आवश्यक नहीं कि ये एक हों, तभी :

० पति के अतिरिक्त पुरुष, मित्र और पत्नी के अलावा प्रेमिका होने की बात समकालीन लेखक ने बड़ी गंभीरता से उठाई है।

० अजन्मे और मर चुके कल की चिंता किए बिना ही केवल वर्तमान को जीना, एकमात्र नया जीवन मूल्य है।

० संभोग मात्र एक संयोग है। सहवास बस में एक साथ सफर करने के बराबर है। और संयुक्त शरीरों का अलग होना नाखून बढ़ जाने के बराबर है अथवा चप्पल की बद्धी टूट जाने के बराबर।

० संभोग में आत्मसमर्पण केवल एक शरीर का दूसरे शरीर के हवाले होना ही नहीं है।

० सारा समय प्रेमालाप नहीं हो सकता। ऐसा होना एक बड़ी हास्यास्पद स्थिति है। क्योंकि संवेदना का जगना पहले खाई हुई चाट के मसालेदार ज़ायके का याद आना है।

---

१. द्रष्टव्य : श्री रमेश बक्षी : किस्से ऊपर किस्सा : भूमिका।

० पहले और दूसरे सैक्स के अलावा एक और तीसरा सैक्स भी है : विकृति, समलिंगीरति, पशुरति। हस्तमैथुन यही तीसरा सैक्स है।

० सारे न्यूडस एक जैसे झूर्रीदार होते हैं।

० मानवीय-संबंधों के संदर्भ में हम लगातार कपड़े बदल रहे हैं। स्त्री को साड़ी बदलने में जितना समय लगता है, संबंध बदलने में उससे भी कम समय लगता है।[1]

० हमेशा वर्तमान में रहना एक नारकीय यंत्रणा है। जहां वर्तमान शाश्वत है, वहां शाश्वत भी अपना मूल्य खो देता है।[2]

कृतियां और मूंगफली : पुरस्कार और आलू का बोरा :

इधर समकालीन-लेखन-चिंतन में आलू और मूंगफली का काफी बोलवाला रहा है। उनके माध्यम से निर्णायक स्थितियों पर गंभीर विचार प्रस्तुत हुए हैं। सार्त्र ने नोबेल पुरस्कार अस्वीकार करते हुए, संपूर्ण पुरस्करण प्रक्रिया के प्रति घोर अरुचि दिखाई है। पुरस्कार भले ही कई लाख का हो अथवा आलू का बोरा—वह समकालीन लेखन के परिवर्तित मिजाज के अनुकूल नहीं पड़ता है। इसी प्रकार हिन्दी के सांप्रतिक लेखन में फैल रही मूल्य-भ्रंशता के संदर्भ में मूंगफली काम आई है। मुद्राराक्षस ने कहा—"सवाल यह है कि कृतियां कृतियां ही हैं, मूंगफली नहीं, जिन्हें तोला जाए" यह प्रश्न समकालीनता से कटे हुए आलोचक की पूर्वाग्रही दुराही प्रवृत्ति से जुड़ा है। समकालीन-लेखन का परीक्षण करते समय वह एकदम फ्लाप हुआ है। अवमूल्यन के ऐसे कैआस पर समकालीन लेखक ने "आउट आव डेट" हो रहे आलोचक के तराजुओं को अस्वीकार किया है। मूल्यांकन-निरपेक्षता का नारा बुलन्द किया है। जड़ आलोचना के अमृत कुम्भ को नकारा है। "हम लोग महाभारत नहीं लड़ना चाहते, हमें क्षमा कर दिया जाए, सारे मूल्य, सारी विजय-कीर्ति, पताकाएं, रथ, भूमि, स्वर्ण, सारा कुछ आप ले जाएं, हमें समीक्षा के अपने अमृत-कुम्भ से मुक्त रहने दें..."[3] संभवतः इसलिए बंगला की भूखी पीढ़ी के एक आग्नेय हस्ताक्षर मलय राय चौधरी ने अपने काव्य-संग्रह के फ्लैप पर लिखा है कि लेखकीय आज्ञा के बिना समीक्षा नहीं की जा सकती। ऐसे सख्त रवैये के लिए लेखक को उत्तरदायी ठहराना भयंकर भूल होगा। ऐसे सम्पूर्ण व्यवहार के लिए सामंतवादी, मध्ययुगीन मानसिकता से ग्रस्त आलोचक ही उत्तरदायी है। भूखी पीढ़ी इन्हें समकालीन-लेखन के ऐसे शत्रु मानती है जिनकी जगह एक वेश्या की लाश तथा खच्चर की दुम के बीच कहीं है।[4]

क्या इस स्थिति को "पश्चिमी अविद्या" कह कर टाला जा सकता है? भारत के

---

१. श्रीकांत वर्मा : प्रेम कहानी : जिरह, पृ० ३०

२. श्रीनिर्मल वर्मा : पत्थर और बहता पानी। शब्द और स्मृति, पृ० ९३

३. श्री राजकमल चौधरी : मूल्य निरपेक्ष या मूल्यांकन निरपेक्ष। धर्मयुग, २० जून, १९६५ पृ० ५

४. India : The Hungery Generation : TIMES, Nov. 20, 1964 (American Paper . Asia Edition)

अतीत के गलित गर्हित अंशों के प्रति घृणा, वर्तमान के क्रूर नग्न यथार्थ के प्रति आक्रोश हमें उस लाक्षागृह से खबरदार कर रहे हैं, जिसमें हम आज एक साजिश के तहत कैद किये जाने की प्रक्रिया में से गुजर रहे हैं, सामंती, अर्धसामंती तथा पूंजीवादी संस्कारों का प्रेत इस महल को कब आग दिखा दे? —यह आज की रजस्वला, पुंश्वला राजनीति ही जानती है, भारत का औसत आदमी नहीं।

महा-नगर बोध : शहराती संवेदना :

समकालीन हिन्दी-लेखन में महानगरबोध की लगभग केन्द्रीय स्थिति रही है। आधुनिकता और समकालीनता की प्रक्रिया का 'लीवर' उसी पर टिका है। इन महानगरों की दोहरी भूमिका रही है। युरोपीय प्रभावों का आयातन इन्हीं के अड्डों पर होता आया है। यहीं से ये प्रभाव नगरों, उपनगरों और कस्बे की ओर गये हैं, उपनगर महा-नगर होने की, नगर उपनगर होने की कस्बा नगर होने की और ग्राम कस्बा होने की प्रक्रिया में आए हैं। यह महानगरबोध इन सभी को किसी-न-किसी स्तर पर छिआ हुआ गुजर रहा है। इस सन्दर्भ में एक प्रश्न विशेष विचार की अपेक्षा रखता है। क्या भारतीय महानगरों को यूरोपीय महानगरबोध के छोटे-बड़े शिविर मान लिया जाए?[1] दिल्ली. बंबई, कलकत्ता, मद्रास आदि को पैरिस, प्राग, बर्लिन, रोम, न्यूयार्क, शिकागो, लंदन के महानगरबोध की "पाकिट्स" मान लिया जाए? ऐसा मानना सर्वथा असंगत होगा। क्योंकि प्रत्येक नगर की अपनी ही सांस्कृतिक जड़ें होती हैं, जो किसी भी पानी को अपने ढंग से ग्रहण करेंगी। वह उसके अनुरूप ही शाखाओं-प्रशाखाओं में रूपान्वित होगा। "कास्मोपालेटिन" चरित्र को अख्तियार करने के बावजूद भी लंदन बर्लिन नहीं है, मास्को न्यूयार्क नहीं है, और पेरिस प्राग नहीं है। इनके महानगरीयबोध के भले ही कुछ एक समान तेवर हों मगर इनकी अपनी निजी और खास भंगिमाएं-मुद्राएं भी हैं। यहां तक कि एक ही देश के विभिन्न महानगरों का बोध भी एक समान नहीं होता है। दिल्ली, बंबई, कलकत्ता, मद्रास के अपने अलग परिवेश, संस्कार और 'टैंपरामैंट्स हैं'। यह बात मानने में कोई गरेज़ नहीं कि हमारे महानगर यूरोपीय प्रभावों की छावनियां रहे हैं—बल्कि अब भी हैं। इनकी बैरकें यहां के ईंट-पत्थरों से बनी है—मगर इनकी शिल्प संरचना में यूरोपीय हाथ हैं। परंतु फौजें कूच करती रही हैं। बहुत कम फौजी इन बैरकों से बाहर निकल कर अड़ोस-पड़ोस में अपने लिए टिन-शैड बना पाए हैं। जहां ऐसा हुआ है वहां ही यूरोप का महानगरीयबोध भारतीय नगरों में प्रक्रियात्मक स्वीकृति पाने में सफल हुआ है। अन्यथा वह अरावली की चोटियों पर से मानसूनी हवाओं की भांति बिन बरसे ही उड़ गया है।

हमारे महानगरों में यूरोपीय नगर-दर्शन का खोल तो खड़ा हो गया है बल्कि उसे दिल्ली आदि महानगरों ने काफी ओढ़-सा लिया है मगर वह उनके भीतर नहीं उतर पाया

---

१. द्रष्टव्य : डा० रघुवंश : आधुनिकबोध या संवेदना। परिशोध, अंक २०, पृ० १०-१२

है। उनके जिस्म में रक्तसंचार की धमनियों से वह नहीं जुड़ा है, बल्कि जगह-जगह गांठें बनकर उभर आया है। दिल्ली के शरीर में कितनी गांठें पड़ी हैं। ये छोटे-छोटे सैलूज़—"टी हाउस", 'थीलर्स", "स्ट्रिप्टीज़", "कैबरेज़", "बीटसेशन", "राक-राल", "जाज-संगीत"—तो फक़त गांठें ही तो हैं। मगर इनसे दिल्ली या किसी भीम हानगर के कितने प्रतिशत लोग जुड़े हैं। जो जुड़े हैं उनकी संपृक्ति का अनुपात क्या है? पूरे दिन में वे इस बोध को कितना जी पाते हैं। पूरे परिवार में सभी के साथ कितना 'लिव' कर पाते हैं। अपनी 'कस्बई संवेदना' को छिपाने के लिए यह मुखौटा कितनी देर पहने रहते हैं? दिल्ली इस बोध से अपनी जड़ों को कितना सींच पाई है? वह अपने पूरे चरित्र को कितना महानगरीय बना पाई है। न्यूयार्क के पैटरन पर बनी तीस-चालीस मंजलि इमारतों का एक बड़ा बाग लगा देने से महानगरीयबोध नहीं पनपता है। लोहा और कंकरीट ढल-ढल कर चण्डीगढ़ तो बन सकता है मगर महानगरीयबोध नहीं। हमारी यही दिक्कत या सौभाग्य (?) रहा है कि महानगरों के परिवेश में भी हम अपने पुराने परिवेश से कट नहीं पाए हैं। बस यूं ही ज़रा फ्रैश होने के लिए "कनाट पैलेस" के फुटपाथों पर तमाशबीन की भांति छुए-अधछुए घूम आते हैं। या नंगे-अधनंगे, निर्वस्त्र, अवस्त्र, हिप्पियों को पास की टेबल से देख भर लेते हैं और फिर हमें अपनी सीलन भरी कोठरियों में लौटना पड़ता है। इस घुटन में हम कुंठित भी हुए हैं और संस्कृति-विहीन भी। बल्कि एक हीनता भरी आत्मग्लानि का शिकार भी हुए हैं।

इसी सिलसिले में एक और बात भी बराबर कही-सुनी गई है—कि संक्रांति की ज़ो यातना यूरोप के महानगरों ने झेली है वह भारतीय महानगरों ने नहीं झेली है। इसीलिए यूरोपीय नगरबोध कई सौ वर्षों के संपर्क के बावजूद भी यहां के महानगरों में अभी तक अजनबी है। इस बात में कोई खास वज़न नहीं है। यही बात यूरोपीय नगरों पर भारतीय नगरबोध के कोई प्रभाव न पड़ने के संदर्भ में उठाई जा सकती है। दिल्ली की ऐतिहासिक यातना विश्व के किस महानगर से कम है? उसके दर्द के आगे यूरोप के अनेक महानगर हल्के पड़ने लगेंगे। हिरोशिमा का एक महाविध्वंस दिल्ली के शताब्दियों तक के अविराम विध्वंस के आगे शर्मिन्दा पड़ सकता है। संक्रांति की यंत्रणा की अपेक्षा विशिष्ट सांस्कृतिक धरोहर, दाय, और परिवेश की बात अधिक ठोस और पुख्ता है।

यूरोप और भारत के महानरों में बोध-रूपांतरण की प्रक्रिया विभिन्न दिशाओं से शुरू हुई है। यूरोप में ईश्वर मरा है या मारा गया है—यह ईश्वर ही जाने मगर वहां का ईश्वरहंता विद्रोही मानव जी उठा है। अब जबकि वहां ईश्वर के पुनर्जीवित होने की अफवाहें फैल रही हैं, वहां का वह ईश्वरहंता आदमी उसके बारे में फिर हिंसक और बर्बर हो उठा है। मगर यहां भारत में ईश्वर को जीवित रखने की कोशिश में आदमी मर रहा है। बल्कि आदमी ही आदमी को मार रहा है। खास आदमी आम आदमी को क़तल कर रहा है। यहां ईश्वर के मरने की न तो कोई संभावना है और न कोई आसार ही। यहां आदमी बराबर मरेगा। यह संभावना नहीं बल्कि निश्चित ही है कि मानवहंता आदमी ही यहां एक रोज ईश्वर बन जाएगा। तब पहले ईश्वर का क्या होगा? यह हमारे लिए चिंता का विषय हो सकता है—उसके लिए नहीं, क्योंकि वह बखूबी जानता

है कि ईश्वर सचमुच मर चुका है। मगर उसने बड़ी कामयाबी से इस राज़ को राज़ रखा है। यही उसके ईश्वर बनने की कुंजी है। ऐसी स्थिति में यूरोपीय नगरबोध यहां के सामान्य जन का जीवनबोध नहीं बन सकता है। यहां नगरों के महानगरीय व्यक्तित्व उभर सकते हैं, मगर एक सर्वथा सर्वांशतः स्वीकृत महानगरबोध नहीं। इसी संदर्भ में भारतीय महानगरों की यूरोपीय आदतों की जांच-पड़ताल होनी अपेक्षित है।

हमारे अपने महानगरों का जो मिज़ाज है उसमें फैशन और पैदाइशी पुश्तैनी, संस्कार शामिल हैं। कुछ खुद कमाए हुए वसफ भी हैं—इनमें काफी एकसमानता भी है। दैत्याकार इमारतें, धुआं उगलती चिमनियां, सायरन का नियमित चीत्कार, बेतहाशा भागते इंजनों की फूली सांस और दहाड़ें, थकी मोटरों-गाड़ियों की आक्रोश भरी गुर्राहट, नगरों का राक्षसी-विस्तार, उसकी लंबी-फौलादी बाहों की गिरफ्त में दिन-रात निचुड़ रहा इंसान, पूरी यांत्रिक नियति में यंत्र बन आया आदमी, रोज़मर्राह की निरर्थक रोटीन, और भी व्यर्थ कर जाने वाले लंबे क्यू, भीड़ में अपनी शिनाख्त खो चुका इंसान, किस्तों पर जुटाई गई सुविधाओं में जीवन को ही किश्तों में काट रहा इंसान, जलसों, जलूसों, हड़तालों, चुनावों में केवल एक खड़ा हुआ हाथ बनकर रह गया इसान—ये हैं हमारे महानगरों के हमशकल फीचर और तक़श। इन महानगरों के कुछ शिनाख़ती तेवर भी आपस में मिलते हैं—घृणा, विक्रांति, संत्रस्त विदग्धता, शोर, ऊब, मितलाहट, दुर्घटनाएं।[1] इन सबका एक नाम है अमानवीकरण। इसी ने मानवीय-संबंधों में दरारें डाली हैं, नैतिकता के आधारों को उखाड़ा है पूरे नगर-जीवन की अंतड़ियों में कैंसरिक गांठें डाली हैं।

समकालीन हिंदी-लेखन में यह महानगरबोध अधिकांशतः सृजनशीलता की प्रक्रियात्मक परिणति बनने में कामयाब नहीं रहा है। दिल्ली या महानगरों में बसा हिंदी का ज्यादातर लेखक अपनी कस्बई संवेदना और संस्कारों से मुक्त होकर महानगर-बोध से पूरी तरह संपृक्त नहीं हो पाया है। वह इस बोध की विभिन्न भूमिकाओं में नंगे पांवों उतरने की बजाए पास से गुज़रा है। उसका कमोबेस ऐसा ही सरोकार रहा है। रचनात्मक स्तर पर जो एक गहरा लगाव, संजीदा बावस्तगी, गंभीर आंतरिकता अपेक्षित रहती है वह ऐसे लेखन में प्रक्रियात्मक ढंग से नहीं आ पाई है। जो तनावपूर्ण जटिलता और कतिपय ठोस मानवीय विद्रूपताएं, टकराहट इसमें हैं वे प्रायः अनुभव के ईमानदार संदर्भों से नहीं उठे हैं। मूल्य-संक्रमण के महानगरीय चौराहे पर जिस गंभीरता से नए यथार्थ की नंगी चुनौतियों को स्वीकारना दरकार था वह पूरे "कनसर्न" और "इनवाल्वमैंट" के साथ समकालीन लेखक/लिखन में कम है। यही कारण है कि कई सालों की निरंतर पड़ताल के बाद भी पूरे और सही-सलामत, समकालीन आदमी की तलाश पूरी नहीं हुई है। अपनी पूर्ण-असमर्थता, लाचारी, मजबूरी, बेगानगी, उदासी, उबकाई, अलगाव, सहित यह आदमी कहां पकड़ में आया है? वह शायद आए भी न। क्योंकि पूरे

१. द्रष्टव्य : डा० श्याम परमार : गरम हवाओं का ऑक्टोपस। अकविता और कला संदर्भ, पृ० १४३-४४

समकालीन आदमी से समकालीन लेखक की अभी भेंट नहीं हो पाई है। होती भी कैसे? वह तो महानगरीय नरक में विभक्त, विभाजित और रेज़ा-रेज़ा हो चुका है। इस सदी में उसके पुन: जुड़ने की संभावना का सवाल तक नहीं उठ रहा है।

महानगरीयबोध का एक और तेवर भी है। वह है परिनिष्ठित-वर्ग का सुकुमार, अभिजात तारल्य तथा ऐय्याशी की सुरक्षित-सुविधापूर्ण व्यवस्थाएं, दिमाग़ी संभ्रांत-कौलिन्य, निर्यातित उपकरणों में जीवन भोगने का परिष्कृत अंदाज़, जीवन में कृत्रिम रिक्तता के भराव के शालीन ढंग। निर्द्वंद्व, तनावहीन, संघर्षशून्य ठहरा हुआ जीवन। हिंदी के समकालीन लेखन में अपने अनुपात के रूप। यह तेवर भी रचना-संकल्प को छू भर गया है। बहुत कम ऐसे समकालीन हिंदी-रचनाधर्मी हैं जो जीवन के उपर्युक्त आयामों में अपने पांवों पर आगे बढ़ कर उससे बग़लगीर हो पाए हैं।

महानगरों का एक और जीवित नरक है, जिनमें अभिशप्त लोग चंद सांसें लेने के लिए दण्डित हैं। महानगरों की गंदी बस्तियां, आबादियां, फुटपाथ, जनपथ,—ये नाज़ियों के यंत्रणा-शिविर ही हैं, जिनमें समकालीन सजायाफ्ता-आदमी तहखाने में डाल दिया गया है। और उस पर कड़ा पहरा बिठा दिया गया है। मेल-मुलाक़ात बंद कर दी गई है। समकालीन हिंदी-लेखन में यह व्यक्ति लगभग ग़ायब-सा ही है। समकालीन लेखक या तो इस नरक में गया ही नहीं। गया है तो टुंड्रा के साइबेरिया में निष्कासित इस व्यक्ति से भेंट नहीं कर पाया है। दोबारा उससे मिलने का वह साहस नहीं जुटा पाया है।

महानगरों में किसी भी बाढ़ का पानी जल्द ही उतर आता है और नितर भी आता है। वह शीघ्र ही पेय बनकर आस-पास बंटने लगता है। मगर भारत के नगरों-महानगरों में संक्रांति की बाढ़ अभी तक नहीं उतरी है। गहरे-उथले, मटमैले पानी में परिदृश्यों की पारदर्शिता टूटी है जिसने जीवन के रिश्तों, लगावों और सरोकारों को तोड़ा है। वहां जीवन-मूल्य तय नहीं हो पा रहे हैं। बेशुमार चुनौतियों के "प्रासैस" से उन्हें गुज़रना पड़ रहा है। उनका अंतिम तौर पर तय होना तो दर-किनार वे लगभग भी तय नहीं हो पाए हैं। मूल्यों का अंतिम रूप में तय होना कोई अप्रक्रियात्मक और ठहराव या जड़ता की स्थिति नहीं प्रत्युत वह प्रक्रिया-बिंदु है जहां से पुनः मूल्य-परीक्षण, संकेन्द्रण और स्त्रीकरण का चक्र गतिमान होता है। हमारे यहां और बीसियों चक्र भले ही चले हों पर यह चक्र अभी तक तो नहीं चला है। अतः महानगर संपूर्ण देश में दिशा-दर्शन और मार्ग-संचालन तथा नेतृत्व देने में पूरी तरह सफल नहीं हुए हैं। यही कारण है कि ऐसे महानगरीय जीवन-बोध से अधूरी-अधूरी असंपृक्ति में सूचित साहित्य भी, संपूर्ण समकालीन हिंदी-लेखन में कोई दिशा नहीं दे पाया है। फिलहाल उसकी यही मन्शा है। वह इस वक़्त समकालीन बिखराव-छटपटाहट और दिशाहीनता को ही कभी दर्शक, कभी अर्धभोक्ता, कहीं-कहीं भोक्ता की हैसियत में सामने रखने की फिकर में है।

और अंत में : मगर अंतिम बात नहीं :

यूरोप की ज़ख्मी समकालीनता के लिए वहां का आधुनिकबोध मरहम तो साबित हुआ है और उसकी आत्महंता बीमार मानसिकता की अकसीर दवा भी। मगर अब

जबकि ज़ख्म भर आया है, बुखार उतर चुका है तब यह मरहम-दवा किस काम की? ऐसे प्रश्न और एतराज़ वहां बराबर उठे हैं और उनमें से उठी हैं कुछ वामाईना बातें— यूरोप में आधुनिकता खप चुकी है, जिस आधुनिकता ने ईश्वर की मौत की बात फैलाई थी वह खुद मर चुकी है, विचार की गंभीर ज़मीन पर इन बातों ने बाक़ायदा जड़ें पकड़ी हैं और रूढ़ हो रही आधुनिकता की प्रतिक्रिया में नव्य-आधुनिकता की चर्चा ने ज़ोर पकड़ा है। उसने अपना पारिवेशिक औचित्य भी साबित किया है।

दरअसल विंशती के पूर्वार्द्ध में वहां आधुनिकता और समकालीनता में खासा गंभीर तनाज़ा रहा है। दोनों में जगह-जगह बराबर टक्कर हुई है। किसी एक स्थान पर यह फैसलाकुन लड़ाई नहीं लड़ी गई, प्रत्युत गली में अपने-अपने बैंकर्स थे। हर मोर्चे की हार-जीत से वहां का चिंतन बूंद-बूंद बनकर फूटा है। वह किसी एक उत्स से एक साथ बाहर नहीं आया है। आज जब वे चौकियां उठ गई हैं, सरहदों पर अमन है, युद्धोत्तर संत्रास का कैआस पुर चुका है, नवनिर्माण ने युद्ध-विनाश की शून्यता को भर दिया है तब टुकड़ों के रूप में पनपा अस्तित्ववादी-चिंतन यूरोप के अद्यतन-परिवेश में पुराना पड़ने लगा है। उसे समकालीन संदर्भों में अपनी कैफियत वाज़ह करनी पड़ रही है। वक़्त की दरकार ने जवाबतलबी की है। इस अदालती कटघरे में एक लंबी जिरह के दौरान उपर्युक्त चिंतन के निरुत्तर हो जाने पर नव्य आधुनिकता की चर्चा उठी है। जिस तत्कालीनता के विविध आयामों में यूरोपीय-चिंतन खंड-खंड रूपों में उभरा था उन पर लगभग एक और समसामयिकता की यवनिका पड़ चुकी है। युद्धोत्तर-संत्रास मात्र एक लंबी अंधेरी सुरंग से गाड़ी-यात्रा के दौरान गुज़रने का संस्मरण बन कर रह गया है। पर आधुनिकता की मौत की घोषणा महज़ एक अफवाह ही है। हकीकत यह है कि यूरोप में आधुनिकबोध की रूढ़ियां अवश्य ही दुबक कर बैठ गई हैं और लगभग "असूर्यमय" की स्थिति में अपने दिन बसर कर रही है। वहां जीवन को जो नया रचनात्मक मुहावरा मिला है उसके सामने आधुनिकबोध के रूढ़ तेवर झूठे पड़ने लगे हैं। ऐसे में "नव्य-आधुनिकता" अपनी समकालीनता के आयामों में नए तेवरों सहित न चर्चित हो रही है प्रत्युत जीवन के नार्मस-एटीट्यूड्स के रूप में स्वीकृत भी हो रही है।

यूरोप में आधुनिकता की एक और प्रक्रियात्मक स्थिति भी रही है। वहां विचारों के वंश का अश्वत्य-विस्तार होता रहा है। जनमानस की ज़मीन में बहुत गहरे, उसकी जड़ें बराबर फैलती रही हैं, बाहर भी उसकी शाखाएं-प्रशाखाएं, तने-प्रतने इस क़दर फैले हैं कि उसके मूल-स्कंध की शिनाख़्त मुश्किल हो गई है। सोरोकिन ने इस मसले पर निहायत संजीदगी से विचार किया है।[1] दिक्कत इसलिए भी पेश आई है कि खंड-खंड रूप में उभरी आधुनिकता के अपने स्थानीय और जातीय संस्कार रहे हैं। उनकी तत्कालीनता की कुल-गोत्रता रही है। जब उनके आधार पर एक समग्र दर्शन प्रस्तुत करने की बात उठी तो उसका नाभिक-केंद्र निश्चित करना मुश्किल हो गया। उसमें

---

१. द्रष्टव्य : सोशल फिलोसोफीज आव एन एज आव क्राइसिस : सोरोकिन।

विरोध और विरोधाभास दोनों थे। समस्या तब और भी पेचीदा हो गई जब विश्लेषण के दौरान विरोधों और विरोधाभास और विरोधाभासों को वास्तविक विरोध समझ लिया गया। ज़रब-तक़सीम की इस प्रारंभिक भूल के कारण जो जवाब हाथ लगे वे सही से बहुत दूर थे। इसीलिए विपरीत-ध्रुवीय आधुनिक-चिंतन के मध्यवर्ती अंतराल को भरना और लांघना दुश्वार हो गया है। और यूरोप अपनी आधुनिकता का जातीय स्वरूप तय करने में लगभग असफल रहा है। जातीय-संस्कारों के बावजूद भी जातीय-चरित्र न उभर पाना उसके पक्ष में नहीं जाता है। खासकर तब जब वह दूसरों के अहातों में पांव जमाने के फिराक़ में है।

मगर भारतीय जीवन में चिंतन के मुख़तलिफ़ हलकों में यूरोपीय चिंतन ने खुद इतना खड़ा होने की कोशिश नहीं की है जितनी कि इसे खड़ा करने में यहां के कुछ अति-रिक्त-प्रबुद्ध तबक़े ने की है। यहां के जागरूक चिंतन ने यूरोप की बासी आधुनिकता को भारतीय संदर्भों में सेंध लगाने की या घुसपैठ करने की इजाज़त नहीं दी है, यह चिंतन आधुनिकता-विरोधी नहीं, बल्कि इस बात का पक्षधर है कि भारत को अपनी सम-कालीनता के संदर्भ में ही अपनी आधुनिकता निर्मित करनी है। यूरोप के ऐतिहासिक दौरों से जन्मी वहां की अनेक प्रकार की खप चुकी समकालीनता से जुड़ी आधुनिकता, भारतीय ऐतिहासिक परिवेश से अपना तालमेल कैसे जोड़ पाएगी? यहां यूरोपीय संक्र-मण की परिणतियां भारतीय संक्रमण में कैसे बैठ पाएंगी?

भारतीय जीवन में और परिवार में टूटन, अलगाव, विच्छेदन की यूरोपीय दरारें नहीं पड़ी हैं। यहीं का आम आदमी अभी वैसे संत्रास, विघटन; उबकाई नौसिया को अपने में अनुभव नहीं करता है। यहां पर वैसा निषेध, नहींत्व, अस्वीकार नहीं पनपा है। यहां अभी न तो ईश्वर मरा ही है, और न उसे मारने के लिए किसी का कोई इरादा है। न इस पुण्य कार्य के लिए कोई आमादा ही है। जीवन के प्रति यहां के औसत आदमी का आत्महंता नज़रिया भी नहीं है। जीवन न तो यहां पर दण्ड है और न विसंगतियों का ढेर ही। यहां न तो अमानवीकरण का वैसा यांत्रिक दौर आया है और न यहां के महानगरों में संवेदना की मछलियां ही मरी हैं। महानगरीकरण के बावजूद भी यहां दिल्ली का अपना मिज़ाज है और लखनऊ की अपनी तबीयत है। अवध की पुरफिजां दिलकश शामों की इतर-गंध अब भी यहां के जनमानस पर है। इन महानगरों का साधारण जन भले ही वहां के विलास में शरीक न हो पाया हो, मगर उसके खून में वे ज़रासिम जज़्ब हो चुके हैं। यहां के संस्कारों की जड़ें मध्ययुगीन ज़मीन में फैली हैं और वहां से जीवन-रस लेती आ रही हैं। ऐसी स्थिति में यूरोपीय चिंतन की परिणतियां भारतीय जीवन में न तो तुरंत स्वीकृत हो सकती हैं और न अपने समग्र रूप में ही सही तसलीम की जा सकती हैं। विदेशी अदालतों की लंबी बहसों से हासिल फैसलों को यहां की घरेलू पंचायतों में रायज करना परले दर्जे की हिमाक़त से कम नहीं होगा। यहां यह कहना मुनासिब ही होगा कि समकालीन हिन्दी-लेखन में ऐसी हिमाक़त काफी मिक़दार में हुई है और उसकी भदेस भी हुई है।

भारतीय-आधुनिकता यहां की ज़मीन से उठी है और अपने पांवों चलकर इधर-

उधर फैली है। यूरोपीय चिंतन के जो बीज यहां की समकालीनता की मार्फत यहां आए हैं और यहां की धरती के गर्भ से फूटे हैं, वे यहां के समकालीन जीवन और चिंतन में बाकायदा टिके हैं और खड़े हुए हैं। यहां भी मोहभंग हुआ है। स्वप्न टूटे हैं। आम आदमी छला गया है। समकालीन युद्ध में वह अकेला पड़ा है, पराजित होकर टूटा और बिखरा है। उसका अपना दर्द है, यंत्रणा-शिविर है, संत्रास का साइबेरिया है। अलगाव, विच्छेद, निर्यातन का काला पानी है। विकल्पहीनता, संदर्भ विच्युति के लंबे हिमपात भरे अंधेरे ध्रुवांत हैं, जड़-रूढ़-म्रीयमाण परंपराओं, विश्वासों, मान्यताओं के जलते रेगिस्तान हैं, अपने सलीब भी हैं और इज़राइल की ग़ैर हमवार गलियां भी हैं, अपनी पेशानी पर आक्रोश, अस्वीकार, और विद्रोह के तेवर भी हैं—और हैं, यहां के परिवेश में ही अमानवीकरण से गंदे हो रहे इन्सानी गोश्त की बदबू, संवेदना की मरी जा रही मछलियों की सड़ांद, कुंठाओं की कंदराएं, ग्रंथियों के जाले, हीन भावनाओं के गह्वर।

भारतीय समकालीनता का अपना ऐतिहासिक परिवेश है जिसमें बेशुमार संक्रमणों का विष है, विश्व-चिंतन के संदर्भ में अपने कई सप्रश्न और ख़बरदार होने का एहसास भी है। यहीं के समकालीन जीवन में महाज़ खुलते हैं और समकालीन व्यक्ति अपने ही अतीत. वर्तमान से हुई पहली मुठभेड़ में आधुनिक होने की प्रक्रिया में पड़ जाता है जैसे-जैसे मोर्चे गर्म होते जाते हैं, और वह स्वयं को और मुस्तैदी से ताइनात करता है वैसे-वैसे वह आधुनिक बनता जाता है। आधुनिकता की प्रक्रिया गतिमान होती जाती है और उसकी विविध परिणतियां आधुनिकबोध को जन्माती जाती हैं।

समकालीन लेखन : चरित्र और आचरण

समकालीन सायबेरिया के यंत्रणाशिविर

पिछले दस-बारह सालों में आदमी में आदमी होने का एहसास बड़ी तेज़ी से जगा है और आदमीयत की खोज के लिए उसे अनिवार्य रूप में राजनीति से भी जुड़ना पड़ा है। लेखन में राजनीति से दूरी, अलगाव, तटस्थता का परिणाम बड़ा खतरनाक सिद्ध हुआ था। हिंदी में प्रगतिवाद की प्रतिक्रियावाद में परिणति भी अभी ताज़ा थी। अतः राजनीति के तीव्र आक्रामक दबावों के आगे घुटने टेककर किसी प्रकार की रचनाधर्मिता द्वारा अपनी लेखकीय-प्रतिज्ञाएं पूरी करना मुश्किल था। समकालीन चुनौतियों का रचना-धर्म से जवाब देने के लिए समकालीन लेखक को पक्के तौर पर विरोधी भूमिका स्वीकार करनी पड़ी है—कुछ लेखक तो लाल-पीले शिविरों की राजनीति से संबद्ध होकर अपनी रचनाधर्मिता निभाते रहे और कुछेक शिविरों से बाहर और दूर रहे और वहीं से विरोध का सही कोण तलाशते रहे। शिविरों से समकालीन बेहयाइयों पर जो वैचारिक प्रहार हुए उनके रिटारिक में अधिकांशतः हिस्सेदारी नहीं है। उनकी उग्र और कामचलाऊ आक्रमिक मुद्राओं में सतही बौखलाहट, विक्षोभ, बड़बोलापन, ही अधिक है—क्योंकि उसके लिए वियतनाम में बहे खून का रंग अधिक सुर्ख़ है और प्राग की सड़कों पर फैले खून का रंग सफेद है। उसके लिए बंगमुक्ति अभियान में रक्त का प्रालेय प्रवाह मात्र पानी है, कोयाना और चसनाला की खानों में दबे मज़दूर महज़ मिट्टी के लोंदे हैं। संवेदना के ऐसे बेशर्म रूप से समकालीन हिंदी-लेखन को काफी ज़िल्लत उठानी पड़ी है। खेमों से बाहर के कवि में अपेक्षाकृत सही और सीधी हिस्सेदारी है। उसका साक्षात्कार अंतर्विरोधों की यथार्थ ज़मीन से जुड़ा है। मांसखोर परिवेश के खिलाफ उसका रिटारिक ईमानदार है। उसका कर्म कोरा वक्तव्य और संभाषण नहीं बल्कि तसदीकशुदा ,'हलफनामा''[१] है, एक सीधी "......कार्यवाही"[२] है। उनके अनुग्र शांत मुहावरों में व्यंग्य का संतुलित, लक्ष्य-केंद्रित प्रहार है। उनकी विचारशील रचनात्मक भंगिमा में व्यंग्य और भी प्रखर हो उठा है। प्रतिबद्ध वैचारिकता में मानव का नारा ज़रूर है परंतु उसमें मानवीय अनुपस्थिति है। अनुभव के जटिल और ठोस तनाव वहां अनुपस्थित लगते हैं। समकालीन औसत आदमी के लगाव, सरोकार दरकार से संबद्धता

---

१. बलदेव वंशो : हलफनामा १, २, : उपनगर से वापिसी, पृ० ६८-७०

२. नरेन्द्रमोहन शर्मा : भाषा एक कार्यवाही। इस हादसे में, पृ० ७२

लगभग वहां नहीं के बराबर है। वहां लेखन एक राजनीतिक हथियार है और लेखक स्वयं में एक लुहारखाना। क्योंकि वहां विचार निजी अनुभव से कम जुड़ा है और वह अधिकतर आयातित है सो उसके अपने भीतर की हलचल कम है। वह अक्षिप्र और फिसड्डी है। उसमें निहित व्यंग्य भी कुंठित प्रकार का है। जिसमें मोर्चाबंदी कम और उत्सवधर्मिता ज्यादा है। परतु शिविर-मुक्त सृजनशीलता के अनुसार उस महाज़ में सन्नद्ध हरेक मुजाहिद स्वयं में एक जंग था उसमें होने वाला शहीद था।[1] उसके माध्यम से होने वाले प्रहारों में विचारशील व्यंग्य का ऐसा रूप उजागर हुआ है, जिसमें पथरीली ज़मीन तक को खोदकर उसमें बीज रोपने की शक्ति है।

समकालीनता का यह साइबेरिया, टुंड्रा का रेत भरा, ठंडा-याख़ और अंतहीन मैदान अपने आप में एक बड़ा यंत्रणा-शिविर है, जिसके खूंटे हमारी छातियों में गड़े हैं। यह एक पूरा नरक है।[2] जिसमें तेल के बेशुमार कड़ाहे खौल रहे हैं। और हम बिना किसी अपराध के उसमें धकेले जाने के लिए दंडित हैं। अभिशाप की यह छाया पूरे शिविर पर मंडरा रही है। स्याह आतंक और मौत के शीत दंश से आक्रांत यह एक कैंसर वार्ड है। ज़ख्मी अंतड़ियों से खांस रही यह समकालीनता, समकालीन-हिंदी-लेखन को प्रयोग की नई दिशाएं प्रदान करती है।

समकालीन संवादहीनता : नए डायलाग की तलाश

इधर एक के बाद एक-दो बातें हुई हैं। समकालीन आदमी का अपने परिवेश से और समकालीन आदमी से संवाद टूटा है। साथ ही सृजनधर्मिता भी। ऐसा संवाद टूटने पर वह एकालाप-संलाप की स्थिति में आई है। आदमी को आदमी के साथ और उसकी समकालीनता के साथ जोड़ने के लिए तथा समकालीन रचनाशीलता को समकालीन व्यक्ति और समकालीनता के साथ जोड़ने के लिए समकालीन हिंदी-लेखन ने काफी सरगर्मी दिखाई है। इस प्रकार उसकी केंद्रीय मुद्रा संबोधनात्मक बनती लगती है। निर्यातन के द्वीप में दण्ड के दिन काट रहे आतमहंता आदमी को उसने आवाज़ दी है। उससे बातचीत का रास्ता खोला है। आपसी वार्तालाप के लिए सेतु-रचना की है। जीवंत संपर्क स्थापित किया है। यह नया डायलाग एक वैचारिक भूमिका में ही जुड़ पाया है। इस कार्रवाई में व्यंग्य की भूमिका सर्वाधिक महत्वपूर्ण रही है। समकालीन हिंदी-लेखन की केंद्रीय-मुद्रा संबोधनात्मक है तो संबोधन का नाभिककेंद्र व्यंग्य है। व्यंग्य की सुई से विचार "स्प्रे" हुआ है। उसने समकालीनता को गहरे में "प्रिक" कर विचार को उसको उसकी शिरा-शिरा में छोड़ा है, जो कुल समकालीनता के रक्तसंचार के साथ मिलकर उसकी तबीयत में बदलाव लाता है। समकालीनता में जितने भी महाज़ खुले हैं सभी पर व्यंग्य का स्यासी, ग़ैर-स्यासी ढंग से प्रयोग किया गया है। पूरी समकालीनता पर व्यंग्य करते कुछ आदमी समकालीन हिंदी-लेखन में जन्मे हैं वे अपने कुल-कर्म से उसे बेरहमी

---

१. आदमी अपने पीछे छिपा युद्ध हो गया है : बलदेव वंशी। उपनगर में वापसी, पृ० ९

२. निर्मल वर्मा : पत्थर और बहता पानी। शब्द और स्मृति, पृ० ९३

से छीलते-तराशते हैं।[1] जटिल तनावों, और ठोस टकरावों से वे व्यक्ति जुड़े हैं और बहुत न होकर मूलतः एक हैं—एक औसत, आदमी, आज का आदमी। इनकी तमाम वैचारिक प्रतिक्रियाएं, तेवर, भंगिमाएं और मुद्राएं व्यंग्यात्मक हैं।

अगर भाषा लेखन में आदमी होने की तमीज़ है[2] तो विचारशील व्यांगिकता समकालीनता में लेखन का मिज़ाज और आचरण है। पहले समकालीनता का भाषा पर सतही दबाव ही अधिक रहा है। भक्तिकालीन सक्रमण में यह दबाव बढ़ा था। और काव्य में विचार का अनुपात बढ़ने लगा था। परंतु उसका आचरण व्यंग्यात्मक इसलिए नहीं बन पाया कि उस युग मे डूब रहे आम आदमी को बचाने के लिए दर्शन आगे आया था। यदि वहां टकराव और असंतुलन है तो विकल्प और निष्कृति भी है, जबकि समकालीन चक्राकार सक्रमण में अनिवार्य हादसे, संघर्ष, टकराव तो है ही मगर मोचन-विकल्प, निष्कृति-मार्ग कोई नहीं, या कम हैं। इसीलिए समकालीन हिंदी-लेखन का मिज़ाज और आचरण अपनी तमाम विचारशीलता के साथ व्यंग्यात्मक बन गया है। यह अलग बात है कि व्यंग्य की रेंज बहुत दूर की नहीं रही है। अपनी कुल वैचारिक जायदाद के बावजूद भी समकालीन लेखन में विचार अनेकविध आयामों में जितना फैला है उतना गहरा नहीं जा पाया है। स्यासी मुद्दों से प्रयुक्त व्यंग्य ठस्स हुआ है और उसके ज़रिये प्रक्षेपित होने वाला विचार तेल-बिंदु की तरह जल में बिखरा है। ग़ैर स्यासी रचना-धर्मिता से जो व्यग्यायुध छोड़े गए हैं उन्होंने विचारों की अग्निवर्षा की है। मगर उत्सव-धर्मी प्रणयन में वे बुरी तरह फ्लाप भी हुए हैं। दरअसल अपनी समकालीनता की सरहदें बहुत लंबी हैं। बेशुमार चौकियां और मोर्चे हैं। हर चौकी पर समकालीनता की किसी-न-किसी विद्रूपता से मुठभेड़ हुई है और हाथ लगे हैं कुछ विचार-सूत्र। अभी उनकी व्याख्या शेष है। उनके अनुसार अभी कोई तयशुदा गंभीर-विशिष्ट चिंतन सामने नहीं आया है, विचार और व्यंग्य ने मिलकर उसकी ज़मीन अवश्य ही तैयार कर ली है।

समकालीन भाषा पर दबाव बढ़े हैं उसका दायित्व आग्रही हुआ है। उसके आगे अनेक चुनौतियां रही हैं। इंसान होने के संश्लिष्ट अनुभव को अभिव्यक्त करने के लिए उसे अपना तमाम चरित्र, ईडियम, रिटारिक और क्लीशेज़ बदलना पड़ा है। तत्समी चादर और शुद्ध वैष्णवी आचरण को छोड़ना पड़ा है। सनातनी परहेज़ तोड़ने पड़े हैं। समकालीन अनुभव को ऐन्द्रिय-बोधों से परे मस्तिष्क तक ले जाने के लिए उसकी पूरी-की-पूरी ऐन्द्रिक तात्कालिकता को कम करना पड़ा है। ऐसे में सामने आई है, लुहारखाने की तेज़, फौलादी, सान-चढ़ी, लड़ाकू, और असलह जैसी भाषा जो समकालीन नंगे यथार्थ को पिघलाकर नाटकीयता में ढालती है, व्यंग्यनुमा बनकर स्वयं को जीने की तमीज़ से जोड़ लेती है।

समकालीन लेखन में व्यंग्य-समीकृत विचार ही सर्वाधिक क्षिप्र और संप्रेष्य रहा है। यह बात तब और भी वज़नदार हो जाती है जब अभिव्यक्ति की सपाट-ब्यानी को

---

१. द्रष्टव्य : मोचीराम (धूमिल), लुकमानअली (सौमित्र मोहन) चुन्नीलाल (मलयज), मलूकदास (नरेन्द्रमोहन शर्मा), रक्खामल, सेवकराम, जसवंत, भगतू, अमरू (बलदेव वंशी)।

२. धूमिल

बिंबशील, प्रतीकात्मक अप्रस्तुतपरक लेखन पर प्राथमिकता दी जा रही है। इनसे अभिव्यक्ति भले ही कलात्मक होती रही हो, मगर कथ्य अवश्य ही क्लिष्ट हुआ है। वे विचार पर लदे हैं, वह ग़रीब तो कहीं रास्ते में ही बिदक गया है और पाठक के हाथ लगे हैं कुछ एक बासी बिंब, घिसे हुए प्रतीक, उतरे हुए अलंकार। हिंदी-लेखन में ऐसा बहुत बड़ा कबाड़खाना रहा है। यह सब व्यंग्य के अनुकूल नहीं बैठा है, इसलिए इस मन्त्रित सर्प ने पुरानी पिटारी छोड़ी है और विचार की सपाट ज़मीन पर व्यंग्यात्मक अंदाज़ से बड़ी तेज़ी से सरपट भागा है—भाग रहा है।

समकालीन हिंदी-लेखन का सही रुख, तेवर और बढ़िया रूप अपनी तमाम चारित्रिक-संरचना में विचारशील है। लेखन की कुल स्थिति में उसने अपनी चली आ रही दब्बू स्थिति को तोड़ा है और लपक कर भाव की पीठ पर सवार हो गया है। उसे आत्मबोध हुआ है और अपनी भूमिका की पहचान भी। इसीलिए वह अपने विगत का परिताप करने के लिए आक्रामक और व्यंग्यात्मक हुआ है। व्यंग्य से उसने कोई अस्थाई समझौता नहीं किया है बल्कि उसे आत्मसात किया है, उससे आत्मसात हुआ है।

समकालीन रचनाधर्मिता : दलाली और दुच्चापन

समकालीन हिंदी-लेखन की भूमिका जहां पूरी ईमानदारी से समकालीन व्यक्ति की जांच-पड़ताल से जुड़ी है वहां बेइंतहा बेहयाइयों से भी भरी है। ज़रूरत से ज़्यादा तरक्क़ीपसंद तबक़ा उस वक़्त रचनाधर्मिता के दायित्व से विच्युत होने लगता है जब "सोनार-बंगला" के भयंकरतम नरमेध पर उसकी ज़ुबान हलक़ में गर्क़ होने लगती है। एक वर्ग पूरी समकालीनता से कट कर शाश्वत का मर्जुआना पीना शुरू कर देता है। उसने कविता कमाई है। समकालीन आदमी की विवशताओं से आंख मूंदकर उसने वक्तव्यबाजी की है। सृजनशीलता का सैलानी रूप भी सामने आया है। उसने समकालीनता का साक्षात्कार उससे जूझ कर नहीं प्रत्युत दूर खड़े होकर चश्मे के भीतर से किया है। ग़ैर-सरोकार और ग़ैर-बावस्तगी का यह लेखन भी कम टुच्चा नहीं रहा है। स्वयं को समकालीन व्यक्ति के पैर की बिवाई के दर्द से जोड़कर, चलने वाले सृजन में रचनाधर्मिता का सही रुख उभरा है। उसने समकालीन महाज़ पर मुजाहिद बनकर स्वयं को छिलवाया है। लेखन की एकालापीय स्थिति को तोड़ा है और उसमें दायित्व बोध जगाया है। दलाल, दाग़ी, दारोग़ानुमा आलोचक के हथकंडों को नंगा किया है। दरअसल समकालीन युद्ध के प्रत्येक मोर्चे पर उसने स्वयं को पूरी मुस्तैदी से ताइनात किया है।

उपर्युक्त रचनाधर्मिता को समकालीन हिंदी-लेखन में व्यंग्यात्मक प्रहारों से तराशा और काटा गया है। तथा समकालीन सृजन-धर्मिता की सीमाएं, दिशाएं और मूल प्रतिज्ञाएं भी स्पष्ट की गई हैं।

मोहभंग का दर्द : "मैन्सुराइज्ड" राजनैतिक-परिदृश्य

यह मोहभंग होने पर यहां का औसत आदमी औंधे मुंह गिरा है। वह न केवल

अंधा अपाहिज हुआ है बल्कि बौना भी हो गया है। राजनैतिक वायदों विश्वासों, संवैधानिक संरक्षणों के बावजूद भी वह बुरी तरह ठगा गया है। दोग़ली राजनीति, दलाल नेता और दाग़ीतंत्र ने उसे दग़ा दिया है। मर्फिया का नशा टूटने पर उसके कफ-गलित फेफड़ों से गंदा मवाद फूटने लगा है। अब उसने पाया कि वह बीस साल से लगातार एक नरक में गर्म सीखचों-सलाखों से नुचता आ रहा है। तब उसमें पूरे राजनैतिक परिदृश्य के खिलाफ एक बीमार, विवश असंतोष, आक्रोश, हिंसक-उग्रता, जगना स्वाभाविक है। यह एहसास समकालीन युवा-लेखन में ही है। पहली पीढ़ी या तो छायावादी मांस पर जी रही थी या शाश्वत चिरंतन के फिराक में थी। समकालीनता की दरी से वह उठ चुकी थी। इस पर युवा पीढ़ी का कब्जा है। इस पर बैठकर एक ओर उसने पिछले २०-२२ साल के फरेबों का जायज़ा लिया है दूसरी ओर नए संघर्ष का महाज़ भी खोला है।

"टाम्समान" की एक राय रही है कि अक्सर ग़ैर राजनैतिक लोग भी अपने गुस्से का ब्यान स्यासी शब्दों में करते आए हैं। उनके विरोध का कोई स्यासी मुद्दा नहीं रहता है। वे फ़क़त बिना कुछ हथियाने की नियत के ही पै-दर-पै हमला करते हैं। यही स्थिति काफी हद तक समकालीन हिंदी-लेखन में भी रही है। ग़ैर-स्यासी ग़रज़ और मक़सद से उसने राजनैतिक माहौल को बड़ी बेरहमी से छीला और तराशा है। बराबर खूनी पंजों से उसे नोचा है। उसकी खाल खेंची है। संसद, संविधान, प्रजातंत्र, जनतंत्र, आज़ादी, चुनाव, देश, व्यवस्था—इन सब पर उसने क्रूर प्रहार किए हैं। समकालीन कटघरे में खड़ा कर उन पर बाक़ायदा जिरह की है। मगर कुछ रचनाधर्मियों ने स्यासी मुद्दों से बेइंतहा लड़ाकू भाषा में इन पर न केवल हमले किये हैं बल्कि लगातार मोर्चे गर्म रखे हैं। उनमें उग्रता के उधारे तेवर, नकली गुस्से के पैबंद, बड़बोला विद्रोह ही अधिकांशतः रहा है। मानवीय सरोकार की बजाए स्यासी सरोकार और स्यासी प्रतिबद्धता के कारण उसमें चालू, ढीला मुहावरा और सतही बौखलाहट-विक्षोभ आ गया है। ओछी टुच्ची लफ्फाज़ी, से विचार भी टूटा है और व्यंग्य भी खंडित हुआ है। कथ्यचेतना ज़ख्मी हुई है और भाषा का मुहावरा शिथिल पड़ा है। उसकी कुछ ऐसी रूढ़ियां बन गई हैं कि कवि की शिनाख़्त भी मुश्किल पड़ने लगी है। लुच्ची भाषा, नंगा मुहावरा, बदतमीज़ रिटारिक, बेशऊर अभिव्यक्ति, अहमकाना-बड़बोलापन—ये हैं कुछ ऐसी रूढ़ मुद्राएं जो राजनैतिक परिदृश्य के खिलाफ महज़ राजनैतिक बावस्तगी की वजह से गुर्राती आई हैं। बोलने की छूट और आजादी ने राजनीति को लेखन में घसीटा है। इससे बेहया राजनीति का कुछ नहीं बिगड़ा, हां, लेखन की छीछालेदर ज़रूर हुई है।

ऐसे लेखन की जांच-पड़ताल होती आई है। इसके माध्यम से विचार कम और विरोध अधिक आया है। मगर जहां लेखन की अपनी ही राजनीति रही है, वहां से वैचारिक विरोध आया है, जिसने समकालीन सृजन में पुख्ता कलाचेतना जगाई है। विचार का व्यंग्य से बामक़सद और कामयाब अनुबंध रहा है। व्यंग्य की पैनी धार से जो विचार कौंधता है वह एक सूत्र में राजनैतिक फरेबों के प्रति ख़बरदार रहने का है। वह विध्वंस और एनारकी का विचार नहीं। वह अपने को और अधिक शोषित न होने देने का संकल्प है। ऐसा सृजन किन्हीं खेमों से नहीं जुड़ा है। उसमें बंधे-बधाये स्यासी नुस्खे भी नहीं हैं।

वह एक प्रबुद्ध, न कि प्रतिबद्ध रचनाधर्मी की प्रतिक्रियाएं हैं। उसका वैचारिक प्रोटैस्ट है, महज़ आक्रामक रवैया नहीं। इसमें व्यंग्य का दोधारा खांडा चला है। जो वेतहाशा मारकाट है और लहूलुहान करता है। उसके प्रहार बड़े ज़ोरदार और बेरहम रहे हैं। मगर जहां राजनैतिक सरोकार और लगाव रहा है वहां व्यंग्य की अंधी लठैत-बाज़ी है और विचारों की पोस्टरबाज़ी। उनकी आक्रामक मुद्राओं में न तो स्वप्नभंग का शिद्दत का दर्द है और न राजनैतिक परिदृश्यों का ही अपनी आंखों से किया गया साक्षात्कार है।

बोलती समकालीनता : संवेदना के मुर्झाए कमल

पिछले दो दशकों के चक्राकार संक्रमण की परिणतियां बहुत ही विध्वंसक सिद्ध हुई हैं। मानवीय संबंधों में एक तरह का भूकंप आया है। उसकी दरारें समूची मानव-सभ्यता, जीवन और व्यवहार में पड़ी हैं। न केवल आदमी होने की तमीज़ कम हुई है, बल्कि आदमी की पहचान के निशान भी मिटे हैं। स्वयं आदमी, विश्वास, निष्ठा, प्रेम और सौन्दर्य के स्तर पर एकदम अजनबी बना है। एकाएक मूल्यों की "करंसी" बदलने पर पुराने सिक्के गोया रातों-रात खोटे पड़ गए हों और अब आदमी के लिए अपना मूल्य पाना कठिन हो रहा है। उसने विरासत में पाई थी ईश्वर के मारे जाने की अफवाह उसे अब लगभग सही मानने के लिए उसे विवश होना पड़ा है। उसके लिए सौंदर्य-बोध के मान बदले हैं, प्रेम की प्रतिबद्धता, विसर्जन और एकांत-समर्पण के अर्थ बदले हैं, जीवन के मुद्दे, आग्रह और अनुरोध बदले हैं। इस सारे बदलाव में अंततः उसकी संवेदना ही मरी है। एक संबंधहीनता में उसे संबंध ढोने पड़ रहे हैं, जिस्मों की ऊष्मा अर्थहीन हुई है। शुद्ध-गोश्त की भूख ठंडी पड़ी है। खून के संगीत में काठ की घंटियां गुंजित होने लगी हैं। त्वचा के स्पर्श पथराए हैं। रेशमी, गुलाबी, गंधभीनी, महीन, उमर एक लंबी उबकाई भरी जमुहाई बनकर रह गई है। जीवन के सारे लगाव बेमतलब होते लगने लगे हैं। मरी मछलियों की सड़ांद से भरे जौहड़ जैसे समकालीन जीवन की व्यंग्यात्मक अभिव्यक्ति इस दशक के हिंदी-लेखन में एक अलग मुहावरे में हुई है। उसमें न तो बड़बोलेपन का लटका है और न ही सामान्य का सरलीकरण। समकालीन यथार्थ की ठोस स्थिति से टकरा कर ही उसने अपने सरोकार की वैचारिक भूमिका निभाई है। लेखन की इस मुद्रा का व्यंग्य जितना प्रखर है—उसकी, वैचारिक काट भी उतनी ही गहरी है।

प्रतिबद्धता के खेमे : आक्रोश के तेवर

समकालीन हिंदी लेखन में दाएं-बाएं की राजनीति काफी सरगर्म रही है, और बीच के रास्ते का संतुलन बिगड़ा है। सही दिशा की पहचान में फर्क आया है। मगर जल्द ही बाएं पक्ष के शिविरों का फासिज़्म पकड़ में आ गया है। भीतर और बाहर के

लोगों की इन खेमों पर कड़ी निगाह थी। सो इनकी मानवता-विद्रोही साज़िशों का पर्दाफाश होना स्वाभाविक था। मानवता के नाम पर इतना बड़ा दंभ भारतीय-साहित्य-लेखन में शायद ही कभी पहले खेला गया हो।[1] यहां के राष्ट्रीय मोर्चों के खिलाफ जो फतवे इन्होंने दिये थे, वही इनके लिए जान लेवा साबित हो गए। ऐसे सुर्ख खेमों की प्रतिबद्धता यहां के औसत आदमी से बुरी तरह टूटी है। वे उसका सही अनूदन करने में असफल रहे हैं। विरोध उनकी स्थाई मुद्रा रही है। नकली-नपुंसक आक्रोश, गैरहिस्सेदारी का गुस्सा, स्यासी तलखी, सतही बौखलाहट और फिजूल का बड़बोलापन, लफ्फ़ाजी, तनावहीन चालू मुहावरा, भीतरी हलचल से शून्य रिटारिक—ये उनके शिनाख़्ती निशान रहे हैं। ऐसे हो राष्ट्रीयता के नाम पर अर्ध-सामतवादी और पूंजी-प्रश्रयी लेखन ने प्रगति का शिखंडीय स्तवन किया है। उनकी प्रतिबद्धता भी बुनियादी तौर पर जन-विरोधी रही है। प्रत्युत उसने जन-शोषक व्यवस्थाओं के साथ दुरभिसंधियां भी की हैं।

---

१. (क) लेकिन मार्क्सवादियों ने भारत की समस्याओं का हल ढूंढने में जो नक़लबाज़ी और उतावली दिखाई थी—हर समस्या को वे जिस तरह आनन-फानन में पानी-पानी कर देते थे, उससे कभी चिढ़ भी छूटती थी और हंसी भी आती थी···

—भारतभूषण अग्रवाल : एक उठा हुआ हाथ, पृ० ७

(ख) कविता से सामाजिक जिंदगी की बनावट में परिवर्तन की मांग कर गुमराह मार्क्सवादियों ने कम-से-कम एक बात तो प्रमाणित कर दी कि जिंदगी पर जिस तरह का अंकुश वह चाहते हैं, वह फासिस्टों से बहुत भिन्न नहीं है—दोनों के इरादे जितने भी अलग-अलग हों। स्तालिन ने रूसी-साहित्य के साथ वही सलूक किया जो कि हिटलर ने जर्मन-साहित्य के साथ किया··· स्वतंत्र-आत्महत्याएं करनी पड़ीं—

—श्रीकांत वर्मा : जिरह, पृ० २१

(ग) वामपंथी और प्रतिक्रियावादी दोनों ही तरह के राजनीतिक आदर्शवादों का हश्र आखिर तानाशाही में हुआ—लेकिन बाक़ी युवेतर कवियों की राजनीति ··· ज्यादा-से-ज्यादा सामान्य रूप से वामपक्षीय कही जा सकती है, पर वह क्रांतिकारी या आदर्श-प्रेरित वाम-पक्षीयता नहीं है—

—अशोक वाजपेयी : फिलहाल, पृ० १२८, १३५

(घ) समकालीन व्यक्ति से मानवीय समकक्षता के अभाव में, कविता में, अतिगामी छोरों पर अकविताई तथा वामपंथी दु:साहस ने जो अनर्थ ढाए हैं, अब उनके परिताप में कविता वैचारिक सक्रियता एवं आत्मस्फूर्ति को सहृदयता एवं जुड़ाव के ज़रिये फलीमत करने में व्यस्त है ···

—बलदेव वंशी : उपनगर में वापसी : वक्तव्य, पृ० ५

(ङ) परतु जिन्होंने (साहित्यकारों) अपनी गरदनों में वादों की पट्टियां बांध रखी है, वे भी गली-गली भौंकते और काटते फिर रहे हैं···इंसान की भूख का इलाज इंसान को करना चाहिए, पर कुत्तों की भूख की चिंता या तो अमरीका के द्वारा या रूस के द्वारा ही की जाती है। दुर्भाग्य इस देश का है जिसमें ऐसे साहित्यकार भी पल रहे हैं, जो दूसरों के टुकड़ों की ओर ललचाए इस धरती पर घृणा के बीज बो रहे हैं···

—बाबूलाल गोस्वामी : कितने पदचिन्ह, लेखकीय, पृ० ३

समकालीन हिंदी-लेखन के ऐसे नाबालिग़ गुस्से और ग़ैर इंसानी आक्रोश में सतही सरलीकरण है। उसमें रचनात्मक एहसास की कमी भी है और लेखन की चारित्रिक नाटकीय संरचना तथा बुनावट भी कम है। बुनियादी मानवीय सरोकार लगाव और लाज़मी दरकार से विच्छेदित, यह कविता ठोस और संश्लिष्ट मानवीय अनुभव से भी शून्य लगती है, क्योंकि उसमें अकसर मानवीय अनुपस्थिति रही है। इन हालात में क्रांति एक भद्दा मज़ाक और मौक़ापरस्तों का आपसी समझौता बन कर रह गई है और आम आदमी का वाजिब गुस्सा भी काठ हुआ है। युवा नसों में खौल रहा खून ठंडा पड़ा है। उसके रोष की जबरन नसबंदी की गई है। लाल-पीले शिविरों से "स्टरलाइज़" तो होकर लौटे कुछ युवा लेखक जब समकालीन व्यक्ति की दुर्नियतियों पर लाल-पीला होते हैं तो वे महज़ मसखरे और मिरासी लगते हैं।

समकालीन तनाव में जिन रचनाधर्मियों के होश-हवास दुरुस्त रहे हैं उन्होंने इस स्थिति को पकड़ा है और ठोस आदमी से जुड़ कर बड़ी बेलाग मुद्रा में अपने सरोकार को बेबाक़ किया है। उनका जायज़ा सिर्फ तबसरा है और ब्यान नहीं, बल्कि हिस्सेदारी का रचनात्मक एहसास है।

महानगर—

खौलते नरक : बर्लिन-वाल के पार विदेशी अड्डे

बात अभी हाल की भी नहीं, बहुत पुरानी भी नहीं। कहने वाला चिरंतनबाज़ी में पड़ चुका है मगर जो बात उसने (श्री अज्ञेय) सांप के संदर्भ में नगरों के बारे में कही थी वह बहुत सटीक थी। उसमें निहित व्यंग्य एक धमाके से ब्लास्ट करता है और नगर-सभ्यता, बोध, तमीज़ की त्रासदी अपनी पूर्ण विद्रूपता के साथ प्रकट होने लगती है। बाद के हिंदी-लेखकों ने इन खौलते नरकों में आत्म-निर्यातन का दण्ड भोगा है। महानगरों की विसंगतियों को झेला और ढोया है। ऐसे ही उसके बारे में मुंह नहीं खोला है।

अपने गिने-चुने कुछेक महानगरों की हालत अनेक विरोधाभासों से खचाखच भरी है। उनकी अपनी रेशा-बलग़म से भरी खांसती गलियां भी हैं और उसकी पीठ पर लदी विदेशी तौर-तरीकों की बस्तियां भी हैं। दोनों में एक बर्लिन-वाल है। दोनों में अभिशप्त और दंडित लोग रहते हैं। एक में कुलबुलाते गंदे कीड़े हैं और दूसरे में यंत्र हुए जा रहे अधिकतर अमानव। इन महानगरों के कुछ तेवर भी उभरे हैं। व्यक्तित्वहीन निर्वैयक्तिक भीड़, बेतहाशा भागते-टकराते-गिरते अजनबी लोग, लंबे क्यूज़ में लगे-खड़े लोग, जिनकी अपनी कोई शिनाख़्त नहीं, राशन और आइडेंटिटी कार्ड्ज, बस-ट्रेन-पास ही उनकी सही पहचान है। वे महज़ रोटीन हैं, रोटीन के धक्के, और रेले हैं, जिसके न अपने क़दम होते हैं न कोई गति। वहां सालम आदमी कहां? वह तो बंट चुका है, क़िश्तों में, कमेटियों में, जमा हो चुका है बीमा में, लाज़मी बचत योजनाओं में, पैंशन-फंड की स्कीमों में। एक ही टाइप की मकाननुमा डिब्बियों में मनसूई हवा को पीकर वह समाज में एक टाइप बन चुका है और व्यवस्था में एक फाइल। टुकड़े-टुकड़े बंटा यह शहराती

आदमी अपना संबोधन और सवाद खो चुका है। उसके आपसी संबंध, रिश्ते, सरोकार, शगाफों, दरारों से भरे हैं और दिनों-दिन भर रहे हैं, इस बीमार महानगर की एक बीमार मानसिकता भी उभरी है, जो एक बहुत बड़ी मात्रा में संवेदना-शून्य और ग़ैर-मानवीय हो चुकी है। यहां रहने वाला आम आदमी काठ हो चुका है।

इन महानगरों ने अपने चेहरों पर कुछ आयातित तेवर भी चस्पां किए हैं। कहीं-कहीं उनकी प्लास्टिक सर्जरी भी हुई है। बावजूद इसके वे असल चमड़ी की संवेदना से शरीक नहीं हो पाते हैं। इधर गांव-कस्बे बने हैं और कस्बे-उपनगर तथा उपनगर-महानगर बने हैं। प्राविधिक उपलब्धियों ने उनका भूगोल तो बदल दिया है, मगर मिज़ाज नहीं। यहीं पर गांठ पड़ी है। विदेशी फैशनों की ये छावनियां, और जगह-जगह कूच करने वाले उनके दस्ते—हमारे महानगरों के आम आदमी के लिए केवल तमाशा बनकर रह गए हैं। एक ओर उनका अपना नरक है दूसरी ओर छद्म अभिजात से भरा यह संसार है। वह सैर-सपाटे के लिए हफ्ते में दो-एक बार बड़ी मुश्किल से फ़ुर्सत पाकर वहां जाता है और फुटपाथ से या थोड़ा और क़रीब से वहां की हवा लेकर फिर अपने खौलते नरक में लौट आता है।

समकालीन हिंदी-लेखन में इन खौलते नरकों की आग है। यहां न चालू मुहावरा है और न कोई प्रतिबद्ध रिटारिक : बल्कि यहां मानवीय संबंधों की पेचीदा कशमकश का ठोस साक्षात्कार संरचनात्मक होने की प्रक्रिया में आता लगता है। उनके बखान की कस्बई और ग्राम-संवेदना पर शहराती-संवेदना अकसर हावी होने का आभास भी देने लगती है। महानगरों की अमानवीय विसंगतियों पर पैने व्यंग्य-प्रक्षेपण हुए हैं, जो उन लेखकों की प्रतिक्रियाओं, प्रभावों की वैचारिक भूमिका प्रस्तुत करते हैं। यह कहने में संकोच न होगा कि संतुलित होकर किए गए ऐसे व्यंग्य-निक्षेप से व्यर्थ बड़बोलापन नहीं प्रत्युत कुछ गंभीर विचार-सूत्र हाथ लगते हैं।

समकालीन लेखन : व्यंग्य और विचार का समीकरण

दरअसल समकालीन हिंदी-लेखन का विचारात्मक होना एक अनिवार्य सांप्रतिक अपेक्षा है और विचार का व्यंग्यशील होना भी समकालीन परिवेश की दुर्निवार अपेक्षा है। समकालीन परिवेश : वमनेच्छा, उबकाई, अमुखर-उदासी, टूटन, थकान, व्यर्थता-बोध, संदर्भ-विच्युति, निर्यातन, विच्छेद, अवमूल्यन, तनाव, बिखराव, का ही लगभग कुल योग है। यह एक पूरा साइबेरिया है। जहां चक्राकार-संक्रमण के यातना-शिविर में सामान्य समकालीन व्यक्ति एक विकल्पहीनता में बराबर निरर्थक होने की यंत्रणा झेल रहा है। ऐसे ही संक्रांत-परिवेश का विष-दंश पाने पर कीर्केगार्द ने अपने वक़्त के विकल्प रहित विध्वंस में बौद्धिकता का सहारा लिया था। यही बौद्धिक चेतना उसके कैंसरिक-दर्द का इलाज करती है और उसके समूचे व्यवहार में प्रखर व्यंग्यात्मक आचरण बन कर उभरती है। सोरेन कीर्केगार्द स्वयं अपनी तमाम समकालीनता पर एक ऐसा व्यंग्य है जिसमें एक विशेष वैचारिक-प्रखरता उपस्थित है। परिवेश की संकरता को लक्ष्य

करते हुए एक बार पोप ने कहा था कि व्यंग्य निहत्थे मासूम लोगों के लिए सबसे बड़ा हथियार है। ऐसा हथियार जिसके लिए किसी भी लाइसैंस की तो ज़रूरत नहीं मगर उसे चलाने का लगातार अभ्यास और तमीज़ आवश्यक है। समकालीन हिंदी-लेखन ने सांप्रतिक-संक्रांति में इस हथियार को आज़माया है। पूरे परिवेश के प्रति विद्रोह किया है। उसके खिलाफ बड़ी लड़ाई की घोषणा करने से पहले जगह-जगह मोर्चे बनाए हैं, बैंकर्ज़ खोदे हैं और बाकायदा माइनिंग भी की है। लघु पत्र-पत्रिकाओं से लेकर बड़ी अव्यवसायिक प्रकाशन-योजनाओं में ऐसे हथियार ढाले गए हैं। इस लिहाज़ से समकालीन हिंदी लेखन एक पूरी असला फैक्टरी बनी है, जहां विचार के खोलों में व्यंग्य का बारूद भरा गया है। हथगोले भी बने हैं और आणविक नेपाम भी। विचार और व्यंग्य का ऐसा प्रयोग हिंदी लेखन में पहले बहुत कम हुआ है।

व्यंग्य विचार की अपेक्षा नहीं, परंतु विचार व्यंग्य की अनिवार्य अपेक्षा है। व्यंग्य की तलवार का वह म्यान भी है—और उसकी विषाक्त पैनी धार भी। उसके बिना व्यंग्य कुंठित और नंगा हो जाएगा। यह उसकी मौत है। समकालीन हिंदी-लेखन काफी मात्रा में ऐसी मौत भरा है। हिंदी का असला डंप हुआ है। वह या तो फस्स होकर महज़ धुआं बनकर उड़ गया है या हवा में काठ की तलवार की तरह उछला है। सो विचार व्यंग्य का शक्तिकोश है। हिंदी का तमाम समकालीन विचारशील लेखन तो व्यंग्यात्मक नहीं मगर तमाम व्यंग्यात्मक लेखन अधिकांशतः विचारशील अवश्य ही है। व्यंग्य और विचार का ऐसा समीकरण हिंदी लेखन में पहले कभी नहीं हुआ है। प्रगतिवाद में यह बमगोले कुछ स्यासी हाथों में ही फट कर रह गए थे। वह हिंदी लेखन के एक मुहल्ले में हुई मुठभेड़ थी। मगर समकालीन कविता में वह लड़ाई एक गली तक सीमित नहीं रही है। वह शहर के तमाम गली-मुहल्लों में फैली है और वह केवल स्यासी अग्रणियों के नेतृत्व में नहीं हो रही है। जहां भी कोई स्यासी नेता समकालीन हिंदी-लेखन में अपने नारे उछालता और झंडे लहराता आगे आया है, वहां न केवल आम आदमी ने उसका साथ ही छोड़ा है बल्कि उसकी भर्त्सना भी की है। ऐसे लेखन में विचार और व्यंग्य का प्रक्रियात्मक समीकरण नहीं हुआ है वहां व्यंग्य की धार मोटी पड़ी है और विचार बुरी तरह बिखरा है। लक्ष्य तक पहुंच कर मार करने से पूर्व ही वह प्रक्षेपण के तुरंत बाद धुआं बनकर रह गया है, जिसमें कई बार अपने ही लोग हादसे का शिकार हुए हैं।

यह बात लगभग निर्णीत है कि समकालीन हिंदी-लेखन का प्रचुर, सीमांत की चौकियों पर लड़ी जा रही गुरिल्ला लड़ाई है। 'मैंसुराइज्ड'—परिवेश के खिलाफ एक खुला विद्रोह है। व्यवस्था, शासन-सत्ता, जनतंत्र, के मानवहंता रवैयों-व्यवहारों के विरुद्ध मोर्चा है। पिछले दस साल का हिंदी लेखन अपने-आप में एक बड़ा महाज़ है, जिसमें बेशुमार बैंकर्ज़ज़, मोर्चे ट्रेंचिज़, हैं, बाक़ायदा बारूदी सुरंगें हैं। समकालीन रचनाधर्मिता ने ये मोर्चे संभाले हैं और पूरी मुस्तैदी से अपनी पोज़ीशन संभाली है। खुले लबे महाज की लड़ाई में ग्रेनेड से लेकर एटामिक गोलों और मिज़ाइल्स तक का प्रयोग होता आया है। समकालीन महाज़ में परिवेश के खिलाफ हुई तमाम गोलाबारी में, व्यंग्य-विचार का

समीकृत बारूद ही अनेक प्रकार से प्रयुक्त हुआ है।

छायावादी गोश्त पर पली हरामखोर भाषा : भाषा की "आवारागर्द"

समकालीन महाज़ पर मोर्चा संभालते ही यह तथ्य सामने आया कि हमारे तमाम भाषाई हथियार न केवल पुराने पड़ चुके हैं प्रत्युत कुंठित भी हो गए हैं। परिवेश के खिलाफ पहली ही मुठभेड़ में हमने खुद को एकदम निःशस्त्र-सा अनुभव किया। भाषा के स्तर पर न तो कभी हमने ऐसा और इतना धोखा खाया था और न कभी इतना कमज़ोर ही अनुभव किया था। सांस्कृतिक समन्वयों, समझौतों और रोमांटिक गोश्त पर पली, मुटल्ली तोंदल भाषा हरामखोर साबित हो रही थी। आज़ादी से पहले की लड़ाई में जो भाषा कारगर साबित हुई थी वह कब की पेंशन पा चुकी थी। तब की पैंतरा-बाज़ी और थी। समकालीन संघर्ष तो अपने ही रजस्वल बदोबस्त से है। उससे निपटने के लिए बार-बार प्रयुक्त बिंबों, प्रतीकों के खोल बेकार थे। उनके माध्यम से कोई बात कहना अपना बारूद नष्ट करना था। बेहयाई की इंतहा भाषाई स्तर पर हमें मार रही थी।

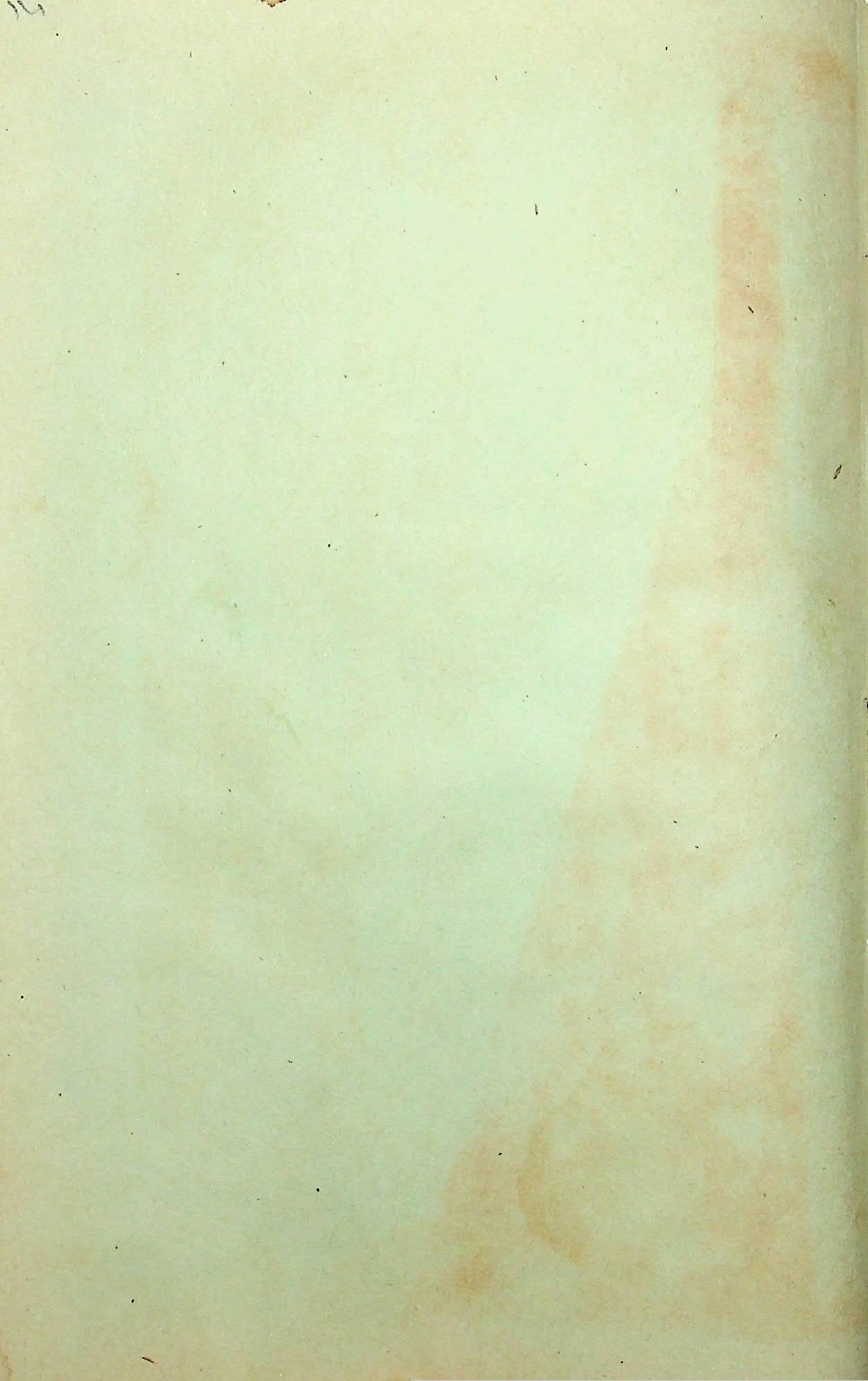
इस नाजुक मरहले पर हमें अपने हथियार गढ़ने पड़े। बिंबों, प्रतीकों, अप्रस्तुतों की ऐय्याशी-फिज़ूलखर्ची और नुमाइश का यह समय नहीं था। ज़रूरत थी सीधे प्रहार करने की। यह परिवेश के नंगे यथार्थ के साथ निकटतम साक्षात्कार था। दुश्मन खुल-कर सामने कूदा था। उसे इतने निकट से हमने पहले नहीं देखा था। अलबत्ता हम सकते में आ सकते थे, क्योंकि आज तक हम उसे अपना ही समझते आ रहे थे। मगर हमने अपने औसान ख़ता नहीं होने दिये। होशोहवाश क़ायम रखे, तब जो भी हमारे पास था, उसके साथ भरपूर वार किया और जाना कि सपाट खुरदरी भाषा में भी छीलने-तराशने की कितनी शक्ति है।

भाषा की यह "आवारागर्द" थी। सेना की ऐसी अग्रिम टुकड़ी, जिसके पास भाषा का एक नया "सोफिस्टिकेटिड" हथियार था—विचार और व्यंग्य का समीकृत रूप। इसकी आणविक ऊर्जा ने बड़े-से-बड़े अपराजेय पैटन-सैबर मार गिराए। वस्तुत: छोटे-छोटे मोर्चों की लड़ाई का एक लगातार सिलसिला पूरे समकालीन परिवेश को युद्ध शिविर में परिवर्तित कर देता है, जहां आए दिन प्रबुद्ध रचना-धर्मिता सांप्रतिक विसंगतियों को ललकारती है, उसके दोगले चरित्र पर प्रहार करती है। विचार और व्यंग्य संयुक्त रूप में इन लड़ाइयों में शामिल हुए हैं। उनके अभियान की दिशाओं की गवेषणा करने से पूर्व, समसामयिक परिवेश में व्यंग्य की परिवर्तित भूमिकाओं का एक सरसरी सर्वेक्षण भी अच्छा रहेगा।

क्रुद्ध मंत्रित तक्षक : व्यंग्य की परिवर्तित भूमिका

काव्यशास्त्रीय दृष्टि से व्यंग्य की पड़ताल समुचित नहीं होगी। एक तो उसका समकालीन जीवन से अब कोई खास तालमेल नहीं। दूसरे समकालीन व्यंग्य का पूरा आचरण उसकी चौहद्दियों से फलांग चुका है। अब व्यंग्य-पिटारी का सांप नहीं। बल्कि

मैदान में सरपट भागने वाला क्रुद्ध एवं यंत्रित तक्षक है, जो न तो किसी बंगाले की बीन के झांसे में आने वाला है और न किसी लठैत की लाठी की ज़द में। वे दिन चुक गए जब सांप मर जाता था और लाठी साबुत रहती थी। अतः आज व्यंग्य को किन्हीं प्राचीन बंदिशों की संगति में जांचना-परखना काफी हास्यास्पद होगा। समकालीन हिंदी-लेखन में उसकी भूमिकाएं विविध-व्यापक रही हैं। इसलिए न केवल उसके तेवर, मुद्राएं, भंगिमाएं ही बदली हैं बल्कि उसका स्वभाव, मिज़ाज़ शऊर भी बदले हैं। उसकी युद्ध-योजनाएं, प्रहार वंचिकाएं, प्रयाण-नीति आक्रमणनीति आश्चर्यजनक ढंग से बदली हैं। उसने शब्दों की आड़ लेकर पूरी "एंबुशिंग" भी की है और वह खुलेआम अपने बैंकर्ज़ से निकल कर विरोधी मोर्चों के ऐन बीच भी कूदा है। बाकायदा मोर्चों में से फाइट दी है और वक़्त आने पर गुरिल्ला युद्ध के लिए सबसे आगे रहा है। उसकी बैरल में व्यंग्य गोलियां भी हैं और संगीन की नोक पर विचारों के बैनर्ज भी। उसके हाथ में व्यंग्य के हथगोले भी हैं और विचारों के 'हैंडबिल्स' भी। यहां तक कि उसने अपनी गणवेश पर भी अपने पोस्टर चस्पां कर रखे हैं, ताकि कल को जब उसकी लाश मिले तो किसी को यह कहने का अवसर न मिले कि उसका विचार के साथ समझौता, और दोनों का संयुक्त हमला एक "सुविधा-विवाह" था। समकालीन संक्रमण में विचार-संयुक्त व्यंग्य की एक विशेष रचनात्मक भूमिका रही है। उसने यह सिद्ध कर दिया है कि समकालीन संदर्भ में व्यंग्य की छुरी केवल स्लाईसिज़ ही नहीं काटती, उनको मक्खन ही नहीं लगाती बल्कि किसी भी जनघाती शक्ति तथा वामपंथी बुर्जुआ घटकों का गला भी काट सकती है। अतः काव्याशास्त्रीय प्रतिमानों को अलग रख कर ही विचारशील व्यंग्य की अनेक विधि भूमिकाओं की पड़ताल हो सकती है।



डा० चन्द्रशेखर :

एम० ए०, पी-एच० डी०, डी० लिट०

संप्रति : हिन्दी विभाग, पंजाबी विश्वविद्यालय, पटियाला

... खर एक ऐसा नाम जो विगत दो दशकों से रंगधर्म को बराबर समर्पि... रहा है। जिसका रंगलेखन स्वीकृत और पुरस्कृत हुआ है और अखिल ... य और विदेशी प्रसारणों में बहुचर्चित भी रहा है। जो 'अनाटक ...लन' में अग्रध्वजवाहक की भूमिका में उतरा है। ऐसा रंगसंकल्पी जब ...ने समकालीन रंग प्रणयन के गणित की पड़ताल करता है तब उसकी ...ब-तक़सीम और कुल जोड़ अधिक प्रामाणिक होते हैं। उसकी रचनात्मक रंग संवेदना समकालीन रंग साक्षात्कारों, रंग संकल्पनाओं, रंग बन्धों का रंगनिष्ठ परीक्षण एक विशेष सरोकार से करती है। प्रस्तुत प्रबन्ध में डा० शेखर का मूल्यांकन इसी दिशा का है।

महत्त्वपूर्ण लेखन :

कविता : नए आयाम नए सन्दर्भ : सर्वोच्च स्टेट एवार्ड से पुरस्कृत

अनाटक : त्रिकोण की भुजाएं : सर्वोच्च स्टेट एवार्ड से पुरस्कृत

: कटा नाखून : सर्वोच्च स्टेट एवार्ड से पुरस्कृत

: कमल और केतकी : सर्वोच्च स्टेट एवार्ड से पुरस्कृत

पांचवां टायर, कुरुक्षेत्र की एक सांझ, ग्लोब की रेखाएं, बिना सूइयों का टाइम पीस, परिधि और बिन्दु, मौत की रोशनी में, पद्मा के लाल कमल, दो दुःखान्त, शहीदों की घाटी, महामाया, जान बची लाखों पाए, हाथीदांत की माला, और शिला पिघल गई, डायल के नंबर (नाटकों की राष्ट्रीय शृंखला कार्यक्रम के अन्तर्गत आकाशवाणी के समस्त हिन्दी और विदेशी सेवा केन्द्रों से प्रसारित)

काव्य नाटक : शिवधनुष, आज देश बलिदान मांगता, जब मैना थी बोला करती।

कथा साहित्य : ब्यान एक गधे का, अपनी ही शोक सभा में, हर शाख पै उल्लू बैठा है, बीवी के जन्म दिन पर, एक और वनवासी राम।

...लोचना : रीतिकालीन स्वच्छन्द काव्यधारा, अभिव्यंजनशिल्प, रीतिमुक्त कविता, मुक्त रचना विधान, हिन्दी नाटक और लक्ष्मीनारायणलाल की रंग यात्रा, समकालीन हिन्दी नाटक—कथ्यचेतना, रंगधर्म, प्रतिमान और निकष, दो रंगधर्मी हस्ताक्षर, तीन दशक हिन्दी नाटक, आधुनिकता बनाम समकालीनता, पंजाब समकालीन हिन्दी कविता, डा० संसारचन्द्र के हास्य व्यंग्यात्मक निबन्ध, कथ्य एवं शिल्प संचेतना।